निवेदन ।

यह छोटीसी पुस्तक 'आत्मज्ञान प्रवेशिका' पाठकोंकि भेट करते हमें प्रसन्नता होती है । इसका विषय नामहीसे प्रकट है । पुस्तकमें २७ पाठ है । प्रत्येक पाठमें जुदा जुदा विषय हैं। विषयका प्रतिपादन यद्यपि जैनदृष्टिसे किया गया है तथापि समझानेका ढंग इतना सुदर है कि, हरेक धर्मका मनुष्य इससे लाभ उठा सकता है । 'आत्मश्रद्धा' और 'आत्म-विकास' नामके पाठ तो प्रत्येक मनुष्यको प्रति दिन एक वार अवश्य पढ जाने चाहिए। इनसे मनुष्यके हृदयमें आत्मवलका सचार और आत्म-शुद्धिके भाव जागृत होते हैं ।

धर्मपरायण दानवीर श्रेष्ठिवर्य श्रीलखमीचदजी वेदके पौत्र और कुँवर अमरचंदजीके पुत्र श्रीयुत पूनमचंद्रका, वैसाख सुदी ७ स० १९८१ के दिन स्वर्गवास हो गया था । अभी उसकी उम्र साढे तीन ही वरसकी थी उसका जन्म स० १९७७ मिगसर सुदी १५ के दिन हुआ था । सन्तान वियोगका आघात हृदयमें कितना जवर्दस्त लगता है इस वातको वे ही जानते हैं जिन्हें दैव–प्रकोपसे कभी इस तरहका आघात सहना पडा है । मगर ऊँचे आत्मा ऐसे समय भी आत्म–विस्मृत नहीं होते; ऐसे समयमें भी वे पापको नष्ट करने और पुण्यको देनेवाली कृति ही करते हैं । आध्यात्मिक साहित्यका प्रचार करना, कराना एक ऊँचे दर्जेका पुण्य–कार्य है । दानवीर सेठजी तथा उनके सुपुत्र कुँवर अमरचंद्रजीने यह [illegible] आत्मार्थियोंको भेटमें देनेके लिए जो सहायता दी है उसके लिए आ[illegible] हमारे साथ पाठक भी सेठजीके कृतज्ञ होंगे । पुण्य तो उन्हें होवेहीग[illegible]

खेद है कि, हम स्वर्गीय वाएकका फोटो, प्राप्त न होनेसे, पु[illegible] न दे सके ।

—प्रकाशक

प्रस्तावना ।

ज्ञानी पुरुषोंकी यही सम्मति है कि जिस वस्तुकी प्राप्ति करनी हो उसका पहले ज्ञान हासिल करना चाहिए और फिर उसको प्राप्त करनेके लिए यत्न करना चाहिए। इसीको ज्ञान और क्रियासे मोक्ष प्राप्त करना कहते हैं । न तो अकेले ज्ञानहीसे कुछ काम चल सकता है और न अकेली क्रियाहीसे इच्छित बस्तुकी प्राप्ति हो सकती है । दूल्हा बिना बरात कैसी ? दूल्हा और बरात दोनोंकी आवश्यकता है। पाठशालाओं और बोर्डिंगोंमें यदि केवल प्रतिक्रमणोंके पाठ कंठस्थ करा दिये जायँ; उनकी क्रियाएँ बता दी जायँ, परन्तु उन्हें यह न समझाया जाय कि, कौन बँधा हुआ है जिसे छुड़ानेके लिए उनकी आवश्यकता है तो प्रतिक्रमणके पाठ और उनकी क्रियाएँ सभी निरुपयोगी हैं । इसलिए पहले आत्मा और बंध–मोक्षका ज्ञान कराना आवश्यक है । जिसको बाल्यावस्थाहीमें सत्य वस्तुका ज्ञान हो जाता है, जिसे अच्छे संस्कार मिल जाते है वह अवश्यमेव क्रियावान बनता है ।

वर्तमानमें अनेक शिक्षित लोग क्रिया नही करते । करने जाते हैं तो वह उन्हें सूखी सूखी लगती है, उसमें आनंद नही आता ! इसका कारण यह है कि, वे आत्मज्ञान शून्य हैं । वे

नहीं जानते कि आत्मा क्या है ? वह किस तरह बंधनमें प है ? किस क्रियासे कर्म आते हैं और किससे उनका आना रुकता है ? किस क्रियासे पूर्वकर्म नष्ट होते है और किससे आत्मस्वरूप प्रगट होता है ? इनसे संबंध रखनेवाला ज्ञान उन्हें नहीं मिला,–मिलता भी नहीं है। इसलिए लक्ष्य-हीन व्यर्थ चलना उन्हें अच्छा नहीं लगता। आधुनिक हरेक शिक्षालयमें इस बातकी कमी है। हजारों रुपये खर्चने और बरसोंतक पाठ-शालाओंको सुचारु रूपसे चलानेपर भी सन्तोपजनक परिणाम नहीं आता ! लड़के पाठशाला छोड़कर व्यारमें पड़ते हैं और लड़कियाँ व्याहकर सुसरालमें जाती हैं। सभी रटे प्रतिक्रमणादिके पाठ भूल जाते हैं यदि किसीको याद भी रह जाते हैं तो उनका उपयोग नहीं होता। यदि उन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान करा दिया जाय तो कठिनसे कठिन प्रसंगमें भी वे अपने धर्मको न भूलें।

इस चातुर्मासमें पादराकी पाठशालाका वार्षिक उत्सव हुआ था। उस वक्त इस विषयका विचार किया गया था। नेताओंको आत्मज्ञानका स्वरूप बतानेवाली पुस्तककी आवश्यकता मालूम हुई। उन्होंने हमसे विनती की। उसीका परिणाम यह ‘ आ-त्मज्ञान–प्रवेशिका ’ पुस्तक है।

श्रीयुत मोहनलाल हेमचंदने मुझे सूचना दी थी कि, इसमें अमुक अमुक विषय आने चाहिए।

बाईस पाठोंमें यह पुस्तक समाप्त हुई है। प्रत्येक पाठके

अन्तमें उसके साररूप प्रश्न भी लिखे गये हैं । पढ़ानेवालेको चाहिए कि वह प्रत्येक पाठ भली प्रकार समझकर विद्यार्थियोंको समझावे और साररूप प्रश्न उन्हें कंठस्थ करावे; प्रश्नोंके उत्तर उन्हींसे ढुंढवावे । इससे विद्यार्थी हरेक पाठको भली प्रकार समझ जायगा । एकसे ज्यादा दिन भी यदि एक ही पाठमें खर्च हो जायँ तो कोई हानि नहीं है, मगर पाठ भली प्रकार तैयार होना चाहिए । यदि ऐसा होगा तो मुझे विश्वास है कि प्रत्येक विद्यार्थीको, अनेक पुस्तकें पढ़नेवालोंसे विशेष ज्ञान होगा । इस पुस्तकका ज्ञान बीजके समान है; सूत्रोंके रहस्यसे भरपूर है; अपने लक्ष्यको बतानेवाला है; आत्मस्वरूपमें प्रवेश करानेवाला है । क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनोंका उपयोग इसमें किया गया है । इसी लिए इसका नाम आत्मज्ञानप्रवेशिका भी सार्थक ही है ।

यदि यह पुस्तक पाठशालाओंमें और अन्यत्र भी उपयोगी प्रमाणित होगी तो इसके आवश्यकतानुसार पुनर्संस्करण भी कराये जायँगे । मैंने तो अपने छोटे भाइयोंकी सेवा की है । यदि उन्हें उपयोगी प्रतीत हो तो वे इसे स्वीकारें और आनंदित हों । इससे मैं अपनेको कृतार्थ समझूंगा । इति

लेखक और वाचकको शान्ति हो ।

सं १९७९
कार्तिक सुदी १५

पं. केशरविजयजी गणि ।

दूसरी आवृत्तिकी प्रस्तावना।

थोड़े ही समयमें आत्मज्ञानप्रवेशिकाका प्रचार अच्छा हुआ है। आत्मज्ञान संबंधी विचार पढ़नेका शौक जैनोंमें बढ़ता जा रहा है। अन्यदर्शनवाले अनेक विद्वानोंने भी इसे पसंद कर, इसके लिए अपनी अच्छी सम्मति दी है। इसके प्रचारमें भी उन्होंने उत्साह दिखाया है। इससे मुझे सन्तोष है।

इसमें ऐसे पाठ हैं जिनमें मतमतांतरोंका झगड़ा नही है और जो सरलतासे व्यवहारमें लाये जा सकते हैं। इनसे आत्मज्ञानकी उन्नति चाहनेवालोंको संतोष होगा।

इस संस्करणमें नये पाँच पाठ और भी बढ़ा दिये गये हैं। आत्ममार्गमें आगे बढ़नेकी इच्छा रखनेवालोंके लिए ये खास उपयोगी हैं।

पहले यह पुस्तक केवल पाठशालाके विद्यार्थियोंहीके लिए लिखी गई थी, मगर अब नये पाठोंसे यह सर्व साधारणके उपयोगी हो गई है। संभव है यह अंग्रेजीका अभ्यास करनेवालोंके लिए भी उपयोगी प्रमाणित हो।

आत्मज्ञान-प्रवेशिका।

प्रथम पाठ।

आत्मा है

यह बात निर्विवाद है कि आत्मा है। मैं हूँ या नहीं? इस शंकाका जो समाधान करना है वही आत्मा है। आत्मा अरूपी पदार्थ है, इसलिए जैसे आँखोंसे हम दूसरी चीजें देख सकते हैं वैसे उसे नहीं देख सकते। यद्यपि आत्माके किसी तरहका रूप या आकार नहीं है तथापि आत्मा अवश्य है।

आत्मामें गुण हैं। उन्हींके द्वारा हम आत्माको जानते हैं। आत्माका मुख्य गुण उपयोग है। वह दो तरहका होता है। एक ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग। एकसे हम वस्तुओंका ज्ञान कर सकते है और दूसरेसे उन्हें देख सकते हैं जानना और देखना ये आत्माके गुण है।

आत्माका अनुभव होता है। आत्माही आत्माको जानता है। संसारके अन्य पदार्थ आत्माको नहीं जान सकते। जो आत्मा विश्वको जान सकता है उसे जाननेवाला दूसरा कौन हो सकता है? उसे जो जानता है वह आत्मा ही है।

आत्मा होता है तभी शरीर चल फिर सकता है, आँखें

देख सकती है, कान सुन सकते हैं, नाक सूँघ सकता है, जीभ चख सकती है, देह शीत उष्णादिका अनुभव कर सकता है और मन विचार कर सकता है।

आत्मा न हो तो सुख दुःखादि जाने न जायँ, मन विचार न कर सके, मुख बोल न सके, नाक सूँघ न सके, जीभ स्वाद न ले सके, शरीर हलन चलन न कर सके और कान सुन न सके। आत्मा विना शरीर मुर्दा कहलाता है। सचेतनदशा और लागनियाँ आत्माके अस्तित्वहीसे होती हैं।

जब सारे विकल्प दूर होते हैं, और मन स्थिर होता है तब जो अनुभव होता है,—जो स्थिति होती है वही आत्माका शुद्ध स्वभाव है,—वही आत्माकी स्वरूपस्थ दशा है। यह स्थिति जितनी ज्यादा रहती है उतनी ही ज्यादा आत्माकी महान शक्तियाँ प्रगट होती हैं,—उसकी योग्यता किंवा बढ़ती है। आत्मा शरीरमें है, इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो आत्मा देह प्रमाण है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है इस अपेक्षासे विचार करें तो वह विश्वव्यापक है। शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षासे आत्मा न लंबा है न नाटा है, न हलका है न भारी है। वह तर्क वितर्कसे नहीं जाना जा सकता है।

जब इन्द्रियोंके विषयोंकी क्रियाएं और मनके विकल्प शान्त हो जाते हैं, तब आत्मा, आत्माकारसे आत्मोपयोगमें परिणमन होकर शुद्ध स्वरूपमें प्रकट होता है; अनुभवमें आता है।

सार प्रश्न।

१. आत्मा है? २. आत्मामें गुण हैं? ३. आत्मा देह प्रमाण है? ४. आत्मा विश्वव्यापक है? ५. आत्माका अनुभव होता है?

पाठ दूसरा।

देहमें आत्मा है।

जैसे अरनीकी लकड़ीमें अग्नि है, दहीमें घी है, तिलोंमें तेल है, पुष्पोंमें सुगंध है, जमीनमें पानी है, वैसे ही शरीरमें जीव है। जैसे पिंजरेसे पिंजरेमें रहा हुआ पक्षी जुदा है, वृक्षसे वृक्षपर बैठा हुआ पक्षी जुदा है, पोशाकसे पोशाक पहननेवाला जुदा है वैसे ही देहसे आत्मा जुदा है।

देहधारी आत्मामें संकोच विकाशका गुण है। उससे यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा इतना बड़ा है या इतना छोटा है। जीव जिस देहमें रहता है उसीके प्रमाणका वह होता है। जैसे शरीर बढ़ता है वैसे ही आत्मप्रदेश भी विकसित होते रहते हैं, और शरीरके भागोंमें व्याप्त हो जाते है। शरीर दुर्बल होने पर या हाथ पैर कट जानेपर जीवके प्रदेश संकुचित हो जाते हैं।

दीपकका प्रकाश खुला रहता है तो वह सारे घरमें फैलता है मगर उसपर वर्तन ढक दिया जाता है तो प्रकाश संकुचित

होकर वर्तनतक ही रह जाता है। इसी तरह संसारी जीव जिस देहको धारण करता है उसीके प्रमाणमें वह रहता है। हाथीके शरीरमें रहनेवाला जीव हाथी प्रमाणके प्रदेश रोककर रहता है और कीड़ीके शरीरमें रहनेवाला जीव कीड़ीके शरीर प्रमाणके प्रदेश रोककर। सुखदुःखका अनुभव भी उतने ही प्रमाणमें होता है। यदि शरीरसे बाहरके विभागमें भी आत्मप्रदेश हों तो बाहरकी शीत, ऊष्णता, दुःख आदिका अनुभव भी इसे होना चाहिए। मगर ऐसा नहीं होता। सुखी बनने अथवा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न भी इसी शरीरमें रहकर किया जाता है। सुख, शान्ति दुःख या ज्ञानका अनुभव भी शरीरस्थ आत्माही-को होता है। इसलिए आत्मा देहप्रमाण है।

कर्मोंके बंधन छूट जानेपर, दीपकके प्रकाशकी भाँति, वह कितना बड़ा है इसका अंदाजा नहीं लगाया जा सकता है, इसीलिए ज्ञानशक्तिकी अपेक्षा आत्मा सर्वव्यापक मानी गई है।

सार प्रश्न।

१. शरीरमें आत्मा है? २. आत्मामें संकोचविकास गुण है? ३. सुख और दुःखका अनुभव शरीरमें होता है? ४. शरीरसे आत्मा जुदा है?

पाठ तीसरा।

आत्मा नित्य है या अनित्य ?

आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिए वह अनादि कहलाता है और उसका नाश नहीं होता इसलिए वह अविनाशी है। जैसे मिट्टीके घड़ेके लिए कहा जाता है कि वह मिट्टीहीसे उत्पन्न होता है और मिट्टीहीमें नष्ट हो जाता है। अर्थात् घड़ा फूटकर वापिस मिट्टीहीमें मिल जाता है। वैसे आत्माके लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह कब और कहाँसे उत्पन्न हुआ है। आत्माकी उत्पत्तिका उपादान (मूल) कारण कोई नहीं है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह नष्ट होकर किसमें मिल गया है। जिससे जो पैदा होता है वही उसका मूल कारण कहलाता है। घड़ेका मूल कारण मिट्टी है; परन्तु आत्माका मूल कोई नहीं है। इसीलिए आत्मा, नित्य, अविनाशी, अक्षय, ध्रुव आदि नामोंसे पुकारा जाता है,—वर्णित होता है।

आत्मा मूल द्रव्यकी अपेक्षा नित्य और पर्यायकी अपेक्षा अनित्य कहा जाता है। गुणकी अपेक्षासे आत्मामें गुणका प्रकट और तिरोभाव हुआ करता है। आत्मामें गुण और पर्याय हैं। इनका वर्णन आगे किया जायगा। उसको भली प्रकार समझनेसे आत्माकी नित्यानित्यता सहज ही समझमें आ जायगी।

आत्मा मूल पदार्थ है। उसे द्रव्य कहते है। उसके साथ गौण या प्रगट रूपसे जो कुछ निरंतर रहता है उस भावको गुण कहते है। जो क्रमश. उत्पन्न होकर बदलता रहता है उसे पर्याय कहते है।

अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत आनंद, अनंत शक्ति, अव्याबाध स्थिति, अगुरुलघु, अनादि अनंत स्थिति और अरूपीपन ये आठ आत्माके गुण है। आठ कर्मोंके नाश होनेसे ये आठ गुण उत्पन्न होते हैं। अर्थात् प्रकट होते हैं। ये आत्माके साथ ही रहते हैं। कर्मावरणसे ये दब जाते हैं। आत्मापरसे कर्मावरण जब दूर होता है तब ये प्रकट होते हैं। जबतक ये आवरण पूरी तरहसे नहीं हट जाते तबतक जिस प्रमाणसे आवरण हटता है उसी प्रमाणसे ये गुण प्रकट होते है और जिस प्रमाणसे आवरण आता है उसी प्रमाणसे ये गुण ढँकते है। मगर गुण रहते तो सदा आत्माके साथही है। ज्ञानादि गुण बाहरके किसी स्थानसे नहीं आते। जो गुण आत्मामें नहीं है उनका बाहरसे आना असंभव है। आत्मा की अनंत शक्तियाँ आत्माहीकी हैं, आत्माहीमें निहित है। आवरण हटनेसे सत्तामें जो शक्तियाँ है वे प्रकट हो जाती है। इन्हें गुण कहते है। आत्माका और इन गुणोंका समवाय (तद्रूप) संबंध है; अभेद संबंध है।

पर्यायें क्रमश होती है और वे बदलती रहती हैं। जो उपयोग बारबार बदलता है वह आत्माकी पर्याय कहलाता है।

आत्माका धर्म जानना और देखना है। जब जाननेका उपयोग होता है तब देखनेका और जब देखनेका होता है तब जाननेका उपयोग मुख्यतया नहीं होता। मगर दोनोंकी सत्ता-गत शक्ति तो साथ ही होती है। जब उपयोग ज्ञानसे बदलता है तब वह दर्शनमें होता है और जब दर्शनसे बदलता है तब ज्ञानमें होता है। इस तरह जानने और देखनेमें उपयोग अनेक रूप धारण करता है और छोड़ता है। इस तरह उपयोगेके बारबार बदलनेका नाम ही पर्याय है।

इन पर्यायोंकी अपेक्षा आत्मा अनित्य है। पर्यायोंके बद-लते रहनेपर भी उनमें आत्माहीकी सत्ता रहती है, इसलिए मूल द्रव्यकी अपेक्षा आत्मा नित्य है।

एक सोनेकी मालाको तोड़कर उसका कड़ा बनाया। मालाका नाश हुआ कड़ा उत्पन्न हुआ, तो भी सोना तो वैसे ही मौजूद है। ये सोनेकी पर्यायें हुई और सोना कायम रहा, इसी तरह आत्माकी, अमुक उपयोग रूप पर्याय नष्ट होती है और दूसरी पैदा होती है; परन्तु आत्मा तो दोनोंमें मौजूद ही रहती है। इस तरह द्रव्यकी अपेक्षा आत्माकी अमरता और पर्यायकी अपेक्षा विनाशता कही जाती है। वास्तवमें आत्माका नाश तो कभी होता ही नहीं है।

सार प्रश्न।

१. आत्माकी उत्पत्ति नहीं होती? २. नाश नही होता?

सब निकम्मा हो जाता है। इस तरह न पहले आत्मा माननेसे समाधान होता है और न कर्म माननेहीसे।

पहले अंडा या मुर्गी ? पहले पुरुष या स्त्री ? पहले दिन या रात ? जैसे इन प्रश्नोंके उत्तरमें हम यह नही कह सकते हैं कि, पहले यह और पीछे वह इसी तरह हम यह भी नहीं बता सकते है कि, पहले कर्म और पीछे आत्मा।

महांन पुरुषोंका कथन है कि, यदि तुम इस प्रश्नको हल करनेमें अपना समय लगाओगे तो तुम्हारा जीवन व्यथ चला जायगा, और सवाल हल न होगा। तो भी इतनी बात तुम समझ सकते हो कि, तुम बँधे हुए हो, तुम्हारा सोचा कुछ भी नहीं हो सकता। अशान्ति तुमको बार बार हैरान करती है। इसको तुम दूर कर सकते हो। इसके लिए परिश्रम करनेसे शान्ति मिल सकती है। जब ऐसा है तब यदि पहले कौन है ? इस प्रश्नको तुम हल न कर सकोगे तो भी, स्वर्णसे जैसे मिट्टी अलग की जा सकती है, वैसे ही तुम आत्मा-को कर्मसे छुड़ा सकोगे। सोना जब खानसे निकलता है तब वह मिट्टीसे सना रहता है; कोई यह नहीं बता सकता है कि, मिट्टी उसके साथ कब लगी, मगर अग्निमें तपाकर वह शुद्धकर लिया जाता है। वैसे ही तपश्चरणद्वारा तुम आत्माको भी इस कर्मो-पाधिसे अलग कर सकते हो।

इससे यह समझमें आता है कि, पहले कर्म है या आत्मा

सब निकम्मा हो जाता है। इस तरह न पहले आत्मा माननेसे समाधान होता है और न कर्म माननेहीसे।

पहले अंडा या मुर्गी? पहले पुरुष या स्त्री? पहले दिन या रात? जैसे इन प्रश्नोंके उत्तरमें हम यह नही कह सकते हैं कि, पहले यह और पीछे वह इसी तरह हम यह भी नहीं बता सकते है कि, पहले कर्म और पीछे आत्मा।

महान पुरुषोंका कथन है कि, यदि तुम इस प्रश्नको हल करनेमें अपना समय लगाओगे तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा, और सवाल हल न होगा। तो भी इतनी बात तुम समझ सकते हो कि, तुम बँधे हुए हो, तुम्हारा सोचा कुछ भी नहीं हो सकता। अशान्ति तुमको बार बार हैरान करती है। इसको तुम दूर कर सकते हो। इसके लिए परिश्रम करनेसे शान्ति मिल सकती है। जब ऐसा है तब यदि पहले कौन है? इस प्रश्नको तुम हल न कर सकोगे तो भी, स्वर्णसे जैसे मिट्टी अलग की जा सकती है, वैसे ही तुम आत्मा को कर्मसे छुड़ा सकोगे। सोना जब खानसे निकलता है तब वह मिट्टीसे सना रहता है; कोई यह नहीं बता सकता है कि, मिट्टी उसके साथ कब लगी, मगर अग्निमें तपाकर वह शुद्धकर लिया जाता है। वैसे ही तपश्चरणद्वारा तुम आत्माको भी इस कर्मोपाधिसे अलग कर सकते हो।

इससे यह समझमें आता है कि, पहले कर्म है या आत्मा

३. आत्माके गुण आत्माके साथ ही होते हैं ? ४. आत्माकी पर्यायें क्रमशः होती हैं ? ५. आत्मा अमर है ? ६. पर्यायोंकी अपेक्षा अनित्य है ?

पाठ चौथा ।

पहले कर्म हैं या आत्मा ?

बहुतसे आदमियोंके दिलोंमें यह प्रश्न उठा करता है कि, पहले कर्म हैं या आत्मा ? यदि पहले जीव मानते हैं तो सवाल पैदा होता है कि, शुद्ध जीवको कर्म किस कारणसे लगे ? आत्माको प्रवृति करनेका कौनसा कारण मिला कि जिससे कर्म उत्पन्न होकर उससे चिपक गये ? यदि यह मानें कि, पहले कर्म थे तो प्रश्न उठता है कि जीव विना कर्म किसने पैदा किये कि वे आत्माके पीछे लग गये ? या जीवको किसने पैदा किया कि कर्म उससे लिपट गये ? इसी प्रकार जड़ स्वभाववाले कर्म आत्मासे कैसे चिपट गये ? यदि मानलें कि कर्मोंका स्वभाव चिमटनेहीका है तब तो वे शुद्ध आत्माको भी लग जायँगे । क्योंकि कर्मोंका स्वभाव ही जीवोंके लिपट जाना है । और यदि ऐसा ही है तो फिर अनेक जन्म तक जप, तप, संयम, ज्ञान, ध्यान आदि करके जीव शुद्ध होनेका जो प्रयत्न करता है वह

सब निकम्मा हो जाता है। इस तरह न पहले आत्मा माननेसे समाधान होता है और न कर्म माननेहीसे।

पहले अंडा या मुर्गी ? पहले पुरुष या स्त्री ? पहले दिन या रात ? जैसे इन प्रश्नोंके उत्तरमें हम यह नही कह सकते हैं कि, पहले यह और पीछे वह इसी तरह हम यह भी नहीं बता सकते है कि, पहले कर्म और पीछे आत्मा।

महांन पुरुषोंका कथन है कि, यदि तुम इस प्रश्नको हल करनेमें अपना समय लगाओगे तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ चला जायगा, और सवाल हल न होगा। तो भी इतनी बात तुम समझ सकते हो कि, तुम बँधे हुए हो, तुम्हारा सोचा कुछ भी नहीं हो सकता। अशान्ति तुमको वार वार हैरान करती है। इसको तुम दूर कर सकते हो। इसके लिए परिश्रम करनेसे शान्ति मिल सकती है। जब ऐसा है तब यदि पहले कौन है ? इस प्रश्नको तुम हल न कर सकोगे तो भी, स्वर्णसे जैसे मिट्टी अलग की जा सकती है, वैसे ही तुम आत्मा-को कर्मसे छुड़ा सकोगे। सोना जब खानसे निकलता है तब वह मिट्टीसे सना रहता है; कोई यह नहीं बता सकता है कि, मिट्टी उसके साथ कब लगी, मगर अग्निमें तपाकर वह शुद्धकर लिया जाता है। वैसे ही तपश्चरणद्वारा तुम आत्माको भी इस कर्मो-पाधिसे अलग कर सकते हो।

इससे यह समझमें आता है कि, पहले कर्म है या आत्मा

इसका निर्णय तुम यदि अभी नहीं कर सकोगे तो भी कर्मोंको आत्मासे तो अवश्यमेव जुदा कर सकोगे। इसलिए तुम्हें चाहिए कि अनुभवद्वारा ज्ञानी पुरुषोंने, कर्मोंको दूर करनेकी जो रीति बताई है उसके अनुसार व्यवहार करो।

कर्मोंका पोषण किन कारणोंसे होता है वे आत्मासे अलग किन कारणोंसे होते हैं? ये दोनों बातें जानना हरेकके लिए आवश्यक है। हम इनका वर्णन आगे करेंगे।

पहले कर्म हैं या आत्मा? इसका उत्तर ज्ञानियोंने दिया है कि, दोनों शाश्वत हैं। अनादि हैं। तो भी उनमें कुछ ऐसी विशेषता है कि, वे अमुक प्रकारके प्रयत्नोंसे भिन्न हो जाते हैं। इसलिये उन प्रयत्नोंका करना आवश्यक है।

सार प्रश्न।

१. पहले कर्म है या आत्मा? २ क्या कर्म आत्मासे अलग हो सकते हैं? ३ इसके संबंधमें ज्ञानी क्या कहते हैं? ४. क्या वे भिन्न हो सकते हैं?

पाठ पाँचवाँ।

आत्माके साथ कर्म-पुद्गलोका संबंध।

जब आत्मा अपना भान भूलकर, अपने स्वभावके विरुद्ध

मन, वचन और शरीरसे रागद्वेषकी प्रवृत्ति करता है तब, लोहा जैसे चुम्बक पत्थरकी तरफ़ आकर्षित होता है वैसे, वह कर्मपरमाणुओंको अपने तीव्र मंद भावोंके अनुसार, अपनी ओर आकर्षित करता है और अपने आत्मप्रदेशोंके साथ जोड़ लेता है। कर्म–परमाणु सारे संसारमें भरे हुए है।

इन रागद्वेषवाले भावोंके चार विभाग है। एक विपरीत प्रवृत्तिवाला भाव, इसे मिथ्यात्व कहते है। इसके कारण जिसमें आत्मा नहीं होती उसमें आत्म–भावना होती है; जो वस्तु अनित्य है, असार है उसमें नित्यताकी और सारताकी भावना होती है, तथा जो अपवित्र है उसमें पवित्रताकी भावना जागती है। मिथ्यात्वकी भावना, आत्म–भानको बहुत ही ज्यादा भुला देती है; यह देहादि जड़ पदार्थोंको सत्य, नित्य, सार और पवित्र समझा देती है। सत्य, यित्य, सार और पवित्र पदार्थ तो आत्मा ही है, मगर इसके विपरीत जड़ पदार्थोंको सत्य, सार और शुद्ध मानकर प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है।

कर्मपुद्गलोंका, आत्माके साथ, संबंध जोड़नेवाली दूसरी भावना 'अविरति' है। अविरतिका संक्षिप्त अर्थ है इच्छाओंको स्वाधीन छोड़ना, आत्मशक्ति प्राप्त करनेकी इच्छाके बदले पुद्गल प्राप्त करनेकी इच्छा करना। आत्मशक्तिका उपयोग आत्मानंदके लिये न कर पुद्गलानंद प्राप्त करनेमें करना इन्द्रिय–विषयोंके तोषकी तरफ ही अपनी आत्मशक्तिको काम

करने देना, यही अविरति है। इससे आत्माके साथ पुद्गल परमाणुओंका संबंध विशेष रूपसे होता है।

आत्माके साथ कर्म पुद्गलोंका संबंध बढ़ानेवाली तीसरी भावना कषायोंकी है। इन्द्रियोंका पोषण करने—विषयोंकी तृप्ति करने—के लिए क्रोध, मान, माया और लोभका उपयोग किया जाता है। इन्हीं चारोंका नाम कषाय है। कभी विषयतृप्तिके लिए, कभी विषयवासनाके साधन जुटानेके लिए, कभी उनकी रक्षार्थ और कभी अपने या दूसरोंके खातिर इन जड़ पुद्गलोंका उपयोग करनेमें इन चार कषायोंमेंसे किसी एक कषायकी भावना प्रबल होती है। यह कषाय भावना ही आत्माके साथ पुद्गलोंका संबंध विशेष रूपसे कराती है। और टिकाये रखती है।

चौथी भावना आत्माके साथ कर्मोंका संबंध जोड़नेवाली मन, वचन और कायाकी प्रवृत्तिकी है। यह राग या द्वेष उत्पन्न कराकर अपने या परके लिए कर्म पुद्गलोंका संचय कराती है। इनमें कर्म शुभ भी होते हैं और अशुभ भी; परन्तु बंधन रूप तो दोनों हैं ही।

इन चारोंमेंसे मिथ्यात्व भाव और भावोंकी अपेक्षा विशेष रूपसे आत्माके साथ कर्मोंका संबंध कराते हैं। और उन्हें टिका भी रखते हैं। विचार करनेसे मालूम होगा कि, जैसे वृक्षोंको फलाने फुलाने और टिका रखनेवाली उसकी जड़ें हैं वैसे ही, इन कर्मोंको टिकाकार रखनेवाले मिथ्यात्व भाव हैं।

यदि मिथ्यात्वके भाव नहीं होते हैं तो केवल अविरितिकी भावनासे बहुत ही कम कर्म बँधते हैं। यदि ये दोनों भाव न हों तो कषाय भावोंसे इनसे भी थोड़े कर्म बँधते हैं और जब ये तीनों ही नहीं होते हैं तब मन, वचन और कायाके योगसे बहुत कम कर्मोंका बंध होता है। इस विवेचनसे स्पष्ट होता है कि आत्मभावोंको भूलना मिथ्यात्व है; इच्छाओंको अधिकारमें न रखना, रखनेका नियम न करना अविरति है; रागद्वेष कषाय है और मन, वचन तथा कायकी सामान्य प्रवृत्ति योग है। कभी एक, कभी दो, कभी तीन और कभी चारों प्रकारके भाव एक साथ होते हैं। इन चार करणोंद्वारा, ग्रहीत कर्मपुद्गलोंका आत्माके साथ संबंध होता है। वह संबंध उन्हीं कारणोंके द्वारा बढ़ता है और निमित्तकी प्रबलतासे वह विशेष समयतक टिका रहता है।

सार प्रश्न।

१ कर्मोंका आकर्षण कैसे होता है? २ मिथ्यात्व किसे कहते हैं? ३ अविरति किसे कहते हैं? ४ कषाय किसे कहते हैं? ५ योग किसे कहते है? ६ कम कर्म कैसे आते है? ७ कर्म किस तरह टिके रहते हैं?

पाठ छठा ।

क्रिया द्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते हैं ।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और मनादि योगोंके निमित्तसे जीव जो कुछ किया करता है उसे कर्म कहते हैं। जीव और आत्मा ये दोनों एक ही पदार्थ के नाम हैं–(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र, और (८) अन्तराय । ये आठ कर्मोंके नामसे प्रसिद्ध हैं । इनके अवान्तर भेद एक सौ अट्ठावन है । आत्मा अज्ञान दशामें इन आठ कर्मोंको बाँधता है ।

(१) जो ज्ञान शक्तिको ढकता है उसे ज्ञानावरण कर्म कहते है । (२) दर्शन (देखनेकी) शक्तिको जो ढकता है उसे दर्शनावरण कर्म कहते हैं । (३) आत्माकी अव्याबाध (किसी तरहसे किसीसे भी बाधित या पीडित न हो उस) शक्तिको जो ढक देता है उसे वेदनीय कर्म कहते है । (४) जो आत्माके अनंत आनंदको ढक देता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं । (५) जो आत्माकी एक स्वरूपसे निवास करने रूप अनंत और अक्षय स्थितिको ढक देता है उसे आयु कर्म कहते हैं । (६) जो आत्माके अरूपी गुणको ढक देता है उसे नामकर्म कहते हैं । (७) आत्माकी अगुरुलघु (हलकी भी

नहीं और मारी भी नहीं ऐसी) स्वभाव सिद्ध स्थितिको जो ढकता है उसे गोत्र कर्म कहते हैं। (८) आत्माकी अनंत बल–शक्तिको जो दबाता है उसे अन्तराय कर्म कहते हैं। आठों कर्मोका स्वभाव इस तरहका है। सुख दुःख आदि विविध प्रकारकी अच्छी और बुरी शक्तियोंका इन कर्मोंमें समावेश हो जाता है।

ऊपर बताये हुए निमित्तोंकी सहायतासे आत्मा भिन्न भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तियाँ कर, जुदा जुदा कर्मोका आवरण उत्पन्न करता है। जैसे–ज्ञानी या दर्शन वाले जीवोंकी निंदा करनेसे, उन पर आघात करनेसे, अथवा उनसे द्वेष या ईर्षा करनेसे अथवा ज्ञान या दर्शन प्रकट होनेके कारणोंमें विघ्न डालनेसे आत्मा ज्ञानावरणीय या दर्शनावर्णीय कर्म बाँधता है। (१–२)

देवपूजासे, गुरुसेवासे, दयासे, क्षमासे, गृहस्थधर्मके अणुव्रत पालनेसे, रागभाव–सहित महाव्रत पालनेसे, धर्मार्थ कष्ट झेलनेसे, आत्मजागृति विना, ओघ संज्ञासे धर्ममार्गमें गमन करने रूप अकाम निर्जरासे आत्मा सातावेदनीय (सुख प्राप्त करानेवाला) कर्म बाँधता है। (३)

जीवोंको दुःख देनेसे, जीवोंकी हत्या करनेसे, जीवोंको रुलानेसे, तड़पानेसे, सतानेसे, शोकमें डालनेसे, तथा स्वयं भी इष्टवियोगके कारण रोनेसे, शोक करनेसे, रोने आदि कारणोंसे आत्मा असातावेदनीय (दुःख देनेवाला) कर्म बाँधता है। (३)

ज्ञानीयोंकी, ज्ञानकी, संघकी, धर्मकी, और देवकी निंदा-करनेसे, धर्मात्मा मनुष्यों पर दोष लगानेसे, गुरु आदि बड़ोंका अपमान करनेसे, तीव्र मिथ्यात्वके भावोंसे और अनर्थका आग्रह करनेसे, आत्मा, दर्शनमोहनीय कर्मका बंध करता है। (४)

क्रोध, मान, माया (कपट) और लोभके तीव्र उदयके आधीन होनेसे, कामोत्तेजक चेष्टाएँ करनेसे, हँसी, मज़ाक़ कर-नेसे, दूसरोंके सुखोंका नाश करनेसे, बुरे कामोंमें दूसरेको उत्सा-हित करनेसे, अपने स्वार्थके लिए दूसरोंका मन वश करनेसे, दूसरोंको डरानेसे, शोक या रुदन करनेसे, किसी पदार्थको देख-कर घृणा करनेसे, आत्मा हास्य, रति, अरति, भय, शोक और घृणा, इन छः, मोहनीय कर्मकी प्रकृतियोंका बंध करता है।(४)

विषय–भोगमें बहुत आसक्ति रखनेसे, झूठसे, कपटसे, और परस्त्री–सेवनसे, आत्मा स्त्रीजन्म दिलानेवाले स्त्रीवेदका बंध करता है। (४)

अपनी स्त्रीहीसे संतुष्ट रहनेसे, ईर्षा न करनेसे, क्रोध, मान, माया, और लोभ कम करनेसे, सरल स्वभावसे और ब्रह्मचर्य आदिसे आत्मा पुरुष जन्म दिलानेवाले पुरुषवेदका बंध करता है। (४)

स्त्री पुरुषके साथ कामक्रीडा करनेसे, विषयभोगकी तीव्र अभिलाषासे, क्रोधादि कषायोंकी प्रबलतासे और जबर्दस्ती सती

स्त्रीपुरुषोंका शील नष्ट करनेसे नपुंसकका जन्म दिलानेवाले नपुंसकवेदका आत्मा बंध करता है। (४)

त्यागके भावोंको छोड़ने या छुड़ानेसे, सच्चरित्रके मार्गको दूषित करनेसे, या बतानेसे, संसारी अवस्थाका गुण गानेसे और शान्त पड़ी हुई कषायोंको उत्तेजित करनेसे आत्मा चारित्र मोहनीय कर्मका बंध करता है। (४)

सार प्रश्न।

(१) कर्म किसे कहते हैं? (२) आठ कर्मोंके नाम बताओ। (३) कौनसा कर्म आत्माकी कौनसी शक्तिको दबाता है? (४) ज्ञानावरणीय कर्मका बंध किससे होता है? (५) दर्शनावरणीय कर्मका बंध कैसे होता है? (६) वेदनीय कर्मका बंध कैसे होता है? (७) सम्यक्त्व मोहनीय कर्मका बंध कैसे होता है? (८) चारित्रमोह कर्म कैसे बँधता है?

पाठ ७ वाँ

क्रियाद्वारा जो कुछ किया जाता है उसे कर्म कहते है।

मनुष्य और पशु आदिका नाश करनेसे, अनेक जीवोंका जिनसे संहार हो सके ऐसे शस्त्र निर्माण करनेसे, निर्माण करनेके

कार्य प्रारंभ करनेसे, हदसे ज्यादा परिग्रह जमा करनेसे, निर्दय-तासे, मांस खानेसे, वैरविरोध बढ़ानेसे, रौद्र—भयंकर परिणाम वाली भावनाएँ करनेसे, आमरण क्रोधादि कषायोंको टिका रखकर, समाधान नहीं करनेसे, जीवोंका नाश हो इतनी प्रबल झूठ बोलनेसे, दूसरेका धन लेनेसे, बार बार विषय सेवन करनेसे और इन्द्रियोंके आधीन होनेसे आत्मा नरकायुका बंध करता है। (९)

अविवेक—सत्यासत्यके विचारकी कमीसे, स्वपरको दुःख हो ऐसी, आर्त ध्यानकी मुख्यतावाली प्रवृत्तिसे, कृत पाप छिपा-नेसे, असत्यमार्गका उपदेश देनेसे, धर्ममार्गका नाश करनेसे, छल—प्रपंच करनेसे, आरंभ—परिग्रह बढ़ानेसे—आदि कारणोंसे आत्मा तिर्यंच आयुका बंध करता है। (९)

आवश्यकतानुसार आरंभ करनेसे, थोड़ा परिग्रह रखनेसे, नम्रतासे, सरलतासे, धर्मध्यानमें प्रीति रखनेसे, मध्यस्थ परिणाम रखनेसे, दूसरेको, आवश्यकताके समय, अपनी जरूरतके सामा-नमेंसे भी देदेनेसे, देव और गुरुकी पूजा करनेसे, सत्पुरुषोंका सम्मान करनेसे, प्रिय और सत्य बोलनेसे, निर्मळ बुद्धि रखनेसे और प्रत्येक कार्यमें मध्यस्थ रहना, आदि कारणोंसे, आत्मा मनुष्य—आयुका बंध करता है। (९)

सराग चारित्र पालनेसे, त्यागका मार्ग ग्रहण करनेसे, गृहस्थ

धर्मके व्रत पालनेसे, आत्मिक जागृतिके विना भी पूर्व कर्म कम हों ऐसी प्रवृत्तिसे, ज्ञानी पुरुषोंकी संगतिसे, धर्म सुननेसे, सत्पात्रोंको दान देनेसे, तपसे, धर्ममें दृढ श्रद्धा रखनेसे, ज्ञान, दर्शन और चारित्रमें अनुराग बतानेसे, अज्ञानतपसे, अच्छी भावनाओं सहित मरनेसे, और भी ऐसे ही कारणोंसे आत्मा देवायुका बंध करता है। (५)

दूसरोंकी निंदा करनेसे, अपनी प्रशंसा करनेसे, हिंसा करनेसे, झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, विषय–सेवनसे, आरंभ बढ़ानेसे, परिग्रह रखनेसे, कठोर वचन बोलनेसे, बड़ बड़ करते रहनेसे, क्रोध करनेसे, दूसरोंका सद्भाग्य नाश करनेसे, जादूटोने करनेसे, कौतूहल पूर्ण स्वभावसे, दूसरोंका उपहास और तिरस्कार करनेसे, दावानल जलानेसे, कहीं आग सुलगानेसे, ठगीसे, मिथ्यात्व बढ़ानेसे, चित्तकी चपलतासे, झूठी गवाही देनेसे, देवादिके बहाने अपना निर्वाह करनेसे, मंदिर, धर्मशाला, उपाश्रय, प्रतिमा आदिका नाश करनेसे, अंगारे गिराना आदि कर्मोंसे आत्मा अशुभ नाम कर्म बाँधता है। इस कर्मके फल स्वरूप विना प्रयोजन भी निंदा होती है। (६)

सरल स्वभावसे, सम्यग्दर्शन धारण करनेसे, गुणानुराग बढ़ानेसे, मानसिक चपलता कम करनेसे, सत्यके पक्षमें रहनेसे, नीतिपूर्वक जीवन निर्वाह करनेसे, अहिंसाव्रत पालनेसे, सत्य बोलनेसे, चोरीका त्याग करनेसे, शील पालनेसे, संतोष रखनेसे,

थोड़ा बोलनेसे, दुखी जीवोंको मदद करनेसे, सुखी जीवोंको देखकर प्रसन्नता बतानेसे, अल्प कषायसे, धर्मस्थानोंका उद्धार करनेसे, संसार–विरक्तिसे, प्रमाद न करनेसे, क्षमासे, और धर्मात्मा मनुष्यका आदर करनेसे, ऐसे ही अन्य कारणोंसे आत्मा शुभ नामकर्मका बंध करता है और उसके फलस्वरूप प्रशंसा प्राप्त करता है। (६)

दूसरेकी निंदासे, अवज्ञासे, हँसीसे, गुण छिपानेसे, झूठे दोष लगानेसे, अपनी प्रशंसासे, न होते हुए भी अपनेमें अमुक गुण बतानेसे, दोषोंके होते हुए भी उन्हें ढँकनेसे, और जाति, कुल आदिका गर्व करनेसे आत्मा नीच कुलमें उत्पन्न होता है और नीच गोत्र बाँधता है। (७)

गुणीके गुणोंकी प्रशंसा करनेसे, उपकार माननेसे, अपने दोषोंकी निंदा करनेसे, जाति, कुल आदिका गर्व न करनेसे, निरभिमानी स्वभाव रखनेसे, मन, वचन और काय पूर्वक ज्ञानियों तथा गुणियोंका विनय करनेसे, आत्मा उच्च कुलमें उत्पन्न होता है और उच्च गोत्र बाँधता है। (७)

दान देनेवालेको रोकनेसे, दान लेनेवालेके बाधा डालनेसे, धर्मकार्यका या दूसरोंकी मदद करनेका प्रयत्न करनेवालेको ऐसा न करने देनेसे, भोगोपभोग (जिस पदार्थका एक बार उपयोग हो उसे भोगकी और जिसका बार बार उपयोग हो उसे उप-भोगकी चीज़ कहते हैं।) की चीजोंका उपभोग करते जीवोंको

रोकनेसे, आत्मा अन्तराय कर्मका बंध करता है। इससे आत्माकी अनन्त वीर्य गुणकी शक्ति दब जाती है। (८)

आत्मा इस प्रकार अपनी शक्तिका दुरुपयोग करके कर्म बाँधता है और चार गतियोंमें सुख दुःखादिका अनुभव करता हुआ परिभ्रमण करता है।

सार प्रश्न।

१. नरकायु कैसे बँधता है? २. तिर्यंच–आयु कैसे बँधता है? ३. मनुष्यायु कैसे बँधता है? ४. देवायुका बंध कैसे होता है? ५ शुभनामकर्मका बंध किन कारणोंसे होता है? ६. अशुभ नामकर्म बँधनेके कारण क्या हैं? ७. उच्च गोत्र बँधनेके हेतु क्या हैं? ८. नीच गोत्र क्यों बँधता है? ९. अन्तरायकर्म बँधनेके निमित्त क्या हैं?

पाठ आठवाँ।

बंध।

आत्मा मिथ्यात्वदि हेतुके कारण जिन कर्मपुद्गलोंको संग्रह करता है उनका बंध चार तरहसे होता है। (१) कर्मका स्वभाव (२) कर्मकी स्थिति (३) कर्मका रस (४) कर्मके प्रदेश। इनका शास्त्रीय नाम क्रमशः प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश हैं। उदाहरणसे यह बात विशेष स्पष्ट हो जायगी। एक लड्डू है।

इसमें लड्डूका स्वभाव, लड्डूकी स्थिति, लड्डूका रस और लड्डूके परमाणु इन चारों बातोंका समावेश हो जाता है।

जो लड्डू सूँठ, पीपल, काली मिरच, आदि पदार्थ डालकर बनाया जाता है उसका स्वभाव वायुको हटानेका, पित्तको दूर करनेका और कफ़को बढ़ानेका होता है। यह स्वभाव कहलाता है। १

लड्डू पन्द्रह, बीस या तीस दिन तक, ऋतुके अनुसार और अदर डाले गये पदार्थोंके प्रमाण से, रहते हैं; खराब नहीं होते। यह उनकी स्थिति है। २

लड्डूमें गुड या शक्कर बराबर भी डाली ज़ाती है, दुगनी भी डाली जाती है और कई चौगुनी भी डालते हैं। यह उसका रस है। ३

किसी लड्डूमें आटा ज्यादा डाला जाता है और किसीमें कम। यह उसका प्रदेश–परमाणुओंका समूह है। ४

अब इस उदाहरणको हम कर्मबंधके साथ घटित करेंगे। किसी कर्मका स्वभाव ज्ञानको, किसीका दर्शनको, किसीका चारित्रको और किसीका आत्माकी अनंतशक्तिको ढकनेका, किसीका यश अपयश फैलानेका, किसीका देवादि गतियोंमें लेजानेका, किसीका उच्च या नीच गोत्रमें जन्म देनेका और किसीका सुखदु:खादि देनेका होता है। कर्मके इन स्वभावोंका नाम ही बंध है। १

किसी कर्मकी स्थिति सौ वर्षकी, किसीकी हज़ार वर्षकी, किसीकी लाख वर्षकी और किसीकी पल्योपमकी या सागरोपमकी होती है। इस स्थितिके अनुसार आत्मा सुख दुःख, आयुष्य, मोह, अज्ञान आदिका उपभोग करता है। इस स्थितिके बँधनेका नाम ही ' स्थितिबंध ' है। २

किसी कर्ममें दुःख देनेका तीव्र रस होता है और किसीमें सुख-शान्ति देनेका और किसी कर्ममें सुख दुःख देनेका मंद-साधारण रस होता है। इसीसे जीवको अत्याधिक, अथवा साधारण सुख दुःख भोगने पड़ते हैं। इसीको रसबंध कहते हैं। ३

किसी कर्ममें परमाणु बहुत होते हैं और रस थोड़ा होता है; किसीमें परमाणु थोड़े होते हैं ओर रस बहुत होता है, इनसे जीव बहुत सुख या दुःख भोगता है। किसी समय पुद्गल परमाणु बहुत ज्यादा होते हैं तो जीव बहुत देरमें सुख दुःख भोगता है। इसीको प्रदेशबंध कहते हैं। ४

इस बातको समझानेका हेतु यह है कि, आत्मा जब किसी इच्छाकी तरफ़ प्रेरित होकर तीव्र या मंद रागद्वेषवाली-जैसी-भावना करता है उसीके प्रमाणानुसार, उसी स्वभावके, वैसे ही रसवाले, वैसी ही स्थितिवाले और उतने ही प्रदेशवाले, कर्म वह बाँधता है। काम तो एक ही होता है मगर उसमें भावनाके रसके प्रमाणमें कम या ज्यादा कर्म-बंध होता है। उदाहरणार्थ, जैसे नीमका रस कड़ुआ है मगर उसमें पानी ज्यादा मिलानेसे

कडुआपन कम रह जाता है। वही रस यदि उबाल लिया जाता है और पानी जला दिया जाता है तो कडुआपन विशेष हो जाता है। इस दृष्टांतसे यह स्पष्ट हो जाता है कि, किसी भी खराब काममें प्रवृत्ति करते समय अपनी तीव्र या मंद उत्साह पूर्ण या पश्चात्तापवाली जैसी भावना होती है उसीके अनुसार कर्मका बंध होता है और उसीके अनुरूप उसका उदय भी होता है। कई बार हम मनुष्योंको देखते हैं कि वे रोगसे हैरान हो रहे हैं, पीड़ा बहुत है, हालत खराब है, उनका कोई मददगार नहीं है; और ऐसी ही हालतमें वे त्राहि त्राहि पुकारते मरते हैं। इसका कारण क्या है ? कारण तीव्र पापकर्मका फल है। कई मनुष्य थोडीसी बीमारी भोगकर या थोड़ासा कारण मिलते ही मर जाते हैं। इससे हम समझ सकते हैं कि उस मनुष्यका अशुभ कर्मविपाक तीव्र नहीं था।

पुण्य प्रकृतिके दृष्टान्तमें,—गन्नेका रस मीठा होता है, मगर उसमें जब पानी डाला जाता है तब उसका मिठास कम हो जाता है। वही रस जब खूब उबाल लिया जाता है तब विशेष मीठा होता है। यह दृष्टान्त पुण्य प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सुखके साथ लागू पड़ता है। कई मनुष्य नीरोग होते हैं; उनकी उम्र बड़ी होती है; धनधान्यसे पूर्ण होते हैं, इज्जत, रुतबा, अधिकार विशेष होते है। पुत्र, पुत्री, स्त्री और कुटुंबी अच्छे व मददगार होते है। बुद्धि, विवेक आदि पूर्ण होते हैं। उनका

जीवन धार्मिक और परोपकारी होता है। उनके जीवनपर कभी दु:खकी छाया नहीं पड़ी होती है। ये सुख पुण्य प्रकृतिवाले तीव्र स्वभावके मीठे फल है। कई इनसे कम सुख देते हैं। यह पुण्यबंधका मंद विपाक है।

इससे यह निश्चय होता है कि, शुभ या अशुभ कार्यमें तीव्र या मंद जैसा परिणाम होता है वैसा ही तीव्र या मंद शुभाशुभ कर्मका बंध बँधता है और वैसा ही उसका फल भोगना पड़ता है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि, क्रोधादि कषायकी अधिकतासे कर्मका रसबंध और स्थितिबंध होता है और मन, वचन तथा काययोगकी प्रवृत्तिसे प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध होता है।

दुनियामें राजा या रंक, सुखी या दुखी, बुद्धिमान या निर्बुद्धि, रोगी या नीरोगी, पूज्य या अवहेलित, आदि जो विविध स्थितियाँ दिखाई देती हैं इन सबका मूल कारण, जान या अजानमें बाँधे हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल है। इस बातको समझकर मनुष्यको चाहिए कि वह आत्मज्ञान प्राप्त करानेवाली हितावह प्रवृत्ति करे। भविष्यमें तुम्हें कौनसी गति मिलेगी इसका आधार तुम्हारा वर्तमान पुरुषार्थ है। अपने भावी जीवनके उत्पादक तुम खुद ही हो। तुम जैसे बनना चाहोगे और जैसा प्रयत्न करोगे वैसे ही तुम बनोगे।

सार प्रश्न ।

१. कर्मका स्वभाव क्या है? २. कर्मकी स्थिति क्या है? ३. कर्मका रस क्या है? ४. कर्मके परमाणु क्या हैं? ५. तीव्र रसवाले भाव कैसे होते हैं? ६. मंद रसवाले भाव कैसे होते हैं? ७. कषायोंसे बंध किसका होता है? ८. मनादि योगसे बंध किसका होता है? ९. संसारकी विविधताका कारण क्या है? १०. भविष्यकी गतिका आधार क्या है?

पाठ नवाँ ।

विचारशक्ति और उसका परिवर्तन ।

आत्माकी जो शक्ति बार बार बदलती रहती है उसे विचार अथवा परिणाम कहते हैं। आत्मा जब अपने स्थिर स्वरूपको छोड़कर नीचे आता है तब राग-द्वेषमें मिलते हुए परिणामोंके रूपमें बदल जाता है। यह आत्माकी एक शक्ति है; परन्तु रागद्वेषयुक्त हो जानेसे वह अशुद्ध शक्ति कहलाती है। यह शक्ति पहले मनमें, फिर वचनमें और तब शरीरमें ईन्द्रियोंके द्वारा प्रकट होती है।

यह विचारशक्ति चार भागोंमें विभक्त होती है। १ अशुद्ध-विचार. २ अशुभविचार. ३ शुभविचार. ४ शुद्धविचार। दूसरे शब्दोंमें कहें तो रौद्र, आर्त, धर्म और शुक्ल इन चार प्रकारके

विचा[illegible] यह बट जाती है। यदि विचारोंको बदलना आता हो तो अधम शक्ति भी उच्चरूपमें परिवर्तन होकर आत्माकी महान शक्तियोंको प्रकट करती है और उनसे आत्माको शान्ति मिलती ह। इस लिए हम प्रथम चार परिणाम बताकर वे उच्चरूपमें कैसे बदले जा सकते हैं सो लिखेंगे।

क्रूर, कठोर, निष्ठुर, निर्दय, जीवोंको मारनेके, मरानेके, तड़पातड़पा कर मारकर या मरवाकर प्रसन्न होनेके, विचार अशुद्ध विचार हैं। हिंसा–प्रवृत्तिको पोषण मिले ऐसे ग्रंथ बनानेके, जीवोंका नाश हो ऐसी झूठ बोलनेके, चोरीके, देश, जागीर, जमीन, स्त्री, पशु, धन आदि चोरने या लूटनेके विचार अशुद्ध विचार हैं। धनादिकी रक्षाके लिये जीवोंका नाश करनेके विचार तीव्र क्रोधके कारण, प्रबल लोभके कारण और अपने महत्त्वको सुरक्षित रखनेके लिए प्राणी–संहार करनेके विचार और इसी तरहके सारे विचार अशुद्ध विचार हैं। १

पाँच इन्द्रियोंके शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि विषयोंको प्राप्त करनेके लिए जो विचार उत्पन्न होते हैं वे सभी अशुभ हैं। प्रिय जनोंके वियोगसे, अप्रिय लोगोंके अथवा पदार्थोंके संयोगसे, रोगकी उत्पत्तिसे, और इच्छित वस्तु प्राप्त करनेके इरादेसे जो जो खयाल किये जाते हैं वे सभी अशुभ विचार हैं अथवा आत्माके अशुभ परिणाम हैं। २

धमके, परमार्थके, दूसरोंको सुखी करनेके और परोपकारी

तानेके लिए जो विचार किये जाते हैं वे सभी शुभ हैं; शुभ परिणाम उत्पन्न करनेवाले हैं। ३

आत्माके अशुद्ध स्वरूपका चिन्तवन करनेके, आत्मस्वरूपमें स्थिरता हो ऐसे ध्यान समाधिके प्रयत्नवाले, और आत्माभिमुख होनेके जो विचार किये जाते हैं वे सभी शुद्ध हैं; शुद्ध परिणामवाले हैं। ४

अशुद्ध विचारोंसे नरकगति मिलती है; अशुभ विचारोंसे तिर्यंच गतिकी प्राप्ति होती है; शुभ विचारोंसे जीव मनुष्य तथा देवगतिमें जाता है और शुद्ध विचारोंसे मोक्ष मिलता है।

विचारशक्ति जैसे ऊँची भूमिकामें परिवर्तन हो सकती है वैसे ही वह नीची भूमिकामें भी बदल सकती है। नीची स्थितिमें लानेका काम बहुत सरल है; किसीके सिखाये बिना भी वह आसकता है। मगर ऊँची स्थितिमें ले जाने के लिए पुरुषार्थ (परिश्रम) करना पड़ता है। अभ्यासके बाद उसके लिए भी खास परिश्रमकी आवश्यकता नहीं रहती।

सरदीमें हम गरमी उत्पन्न करते हैं तब सरदीके परमाणु गरमीके रूपमें बदल जाते हैं; इसी तरह गरमीमें शीतल परमाणु उत्पन्न करनेसे गरम परमाणु भी सरद हो जाते हैं। विशेष अंधेरेमें हम दीपक जलाते है; इसलिए अंधेरेके परमाणु प्रकाशके रूपमें परिवर्तन हो जाते है। ऐसे ही जब अपने मनमें अशुभ या अशुद्ध भाव उत्पन्न हों तब शुभ या शुद्ध विचार करने लगें,

जिससे अशुभ या अशुद्ध भाव शुभ या शुद्धके रूपमें बदल जायँ अँधेरा दूर कर प्रकाश लानेके लिए जितने परिश्रमकी जरूरत है उतनी या उससे भी कम परिश्रमकी जरूरत अशुभ या अशुद्ध परमाणुओंको शुभ या शुद्ध परमाणुओंमें बदलनेके लिए है। कारण प्रकाश तो बाहरसे लाना पड़ता है और विचार तो अंदर ही होते हैं जो तत्काल ही बदले जा सकते हैं। अशुभ या अशुद्ध विचारोंके बदलते ही शुद्ध विचारोंका प्रवाह प्रारंभ हो जाता है। फकत इतना ध्यान रखना चाहिए कि, अशुभ या अशुद्ध विचार न आ जायँ। कई बार अपना ध्यान नहीं होता तो भी परिस्थितिके कारण, निमित्त मिलनेसे अपने विचार बदल जाते हैं; और हमें मालूम भी नहीं होता कि, मेरे विचार बदल गये हैं। मगर ऐसा होता है कई बार।

उदाहरण लो,—किसी नाटकघरमें अनेक मनुष्य बैठे हैं; वे नाटक देखनेमें तल्लीन हो रहे हैं। उस समय नाटकके सिवाय और कोई विचार उनके दिलमें नहीं है। उस समय अचानक आग लग गई। उनके दिलके विचार और तरफ़ फिरे। सब आग आग, पानी लाओ, फायर ब्रिगेडको खबर दो अमुकको बचाओ आदि चिल्लाने लगे; नाटकके संबंधका खयाल उनके दिलमें न रहा। अब विचार भी आगके हैं और बातें भी आगकी हैं। प्राणरक्षाके विचार आनंद मनानेके विचारोंसे विशेष प्रबल होते हैं। इसलिए आनंदके विचारोंको प्राण बचानेके आनंदने

एकदम बदल दिया। इसी तरह अशुभ या अशुद्ध विचारोंके सुखकी अपेक्षा शुभ या शुद्ध विचारोंका आनंद यदि हमें अधिक मालूम हो तो हम थोड़ेसे समय और परिश्रममें अपने विचार बदल सकते हैं।

अलावा इसके जब हम किसी महात्माकी संगतिमें रहते हैं। धर्मचर्चाके स्थानमें बैठते हैं या किसी युवककी दाहक्रियाके निमित्त श्मशानमें जाते हैं उस समय हमारे विचारोंमें बहुत फरक पड़ जाता है; हमारे हृदयमें संसारसे वैराग्य और परमात्माके मार्गमें चलनेकी प्रबल इच्छा हो जाती है। ये प्रबल निमित्त हैं जिनके कारण पहलेके विचार बदल जाते हैं।

जब जब काम, क्रोध, मान, राग, द्वेष आदिके विचार मनमें आवें तभी तब हमें इनसे विरुद्ध प्रकृतिवाले, ब्रह्मचारी, क्षमावान, संतोषी, नम्र स्वभाववाले महात्माओंका उनकी जीवनियोंका विचार करना चाहिए; अशुभ और अशुद्ध विचारवालोंको जो दुःख भोगने पड़े हैं उनका खयाल करना चाहिए एवं अशुद्ध भावोंको छोड़नेवाले मनुष्योंको जो लाभ हुआ है उसका विचार करना चाहिए। ऐसा करनेसे हमारी नीच वृत्तियाँ अवश्यमेव मिट जायँगी।

इसका अभिप्राय यह है कि, मनमें जब कभी थोड़ीसी खराब भावना उत्पन्न हो उसी समय उसके स्थानमें अच्छी भावना उत्पन्न करो। ऐसा प्रयत्न यदि बराबर करते रहोगे तो तुम्हारे

मनसे खराब विचार निकल जायेंगे और अच्छे विचार रखनेका बल आयगा। इस बलसे मनकी वृत्तियोंपर अधिकार होगा और आत्माकी अनन्त शक्तियाँ प्रकट की जा सकेंगी। संसारमें एक महान पुरुषकी तरह तुम्हारी ख्याति होगी, अनेक जीव आदर्श रूपसे तुम्हारा अनुकरण करेंगे और अन्तमें तुम्हें अनन्त सुख मिलेगा।

कर्मग्रंथ सीखनेका हेतु यही है कि, उससे मनकी वृत्तियाँ बदलना आते ही गुणस्थान बढ़नेका कार्य सरल हो जाता है। मनुष्योंमें मुख्यतया विचारके प्रमाणानुसार ही गुणस्थान होते हैं। मनुष्यके व्यवहार साधुओंकेसे होते हुए भी यदि उसके विचार खराब होते हैं तो उसका गुणस्थान भी नीचा ही होता है। और मनुष्य गृहस्थोंकेसे व्यवहार रखता हुआ भी ऊँचे विचार रखकर उच्च गुणस्थानवाला हो सकता है। विचार और व्यवहारके अनुसार ही गुणस्थानकी भूमिकाएँ परिवर्तन हुआ करती हैं।

सार प्रश्न।

१. परिणाम किसे कहते हैं? २. आत्माकी अशुद्ध शक्ति क्या है? ३. आत्माके अशुद्ध विचार क्या हैं? ४. आत्माके शुद्ध विचार क्या हैं? ५. शुभ विचार क्या हैं? ६. विचारोंका फल क्या है? ७. विचार कैसे बदले जाते हैं? ८. कर्मग्रंथ पढ़नेका रहस्य क्या है? ९. गुणस्थानकी उच्चताका आधार क्या है?

पाठ दसवाँ।

बंधन-मुक्ति।

अज्ञानदशामें आत्मा अपनी शक्तिका उपयोग रागद्वेषके साथ करता है। इसलिए आत्मा और पुद्गलोंका संबंध टिका रहता है। उस कारणको दूर करनेसे कर्मपुद्गलोंका संबंध भी छूट जाता है। इसीको कहते हैं कर्मबंधनसे मुक्ति।

आत्मा जो पदार्थ है उसे उसी रूपमें जाननेका नाम मिथ्यात्वका विरोधी सम्यक्त्व है। आत्मा नित्य है; सत्य है; आनंद स्वरूप है। इसको बराबर समझनेसे और प्रवृत्तिके सभी प्रसंगोंमें इस बातका विचार रखनेसे मिथ्यात्त्वसे आनेवाले कर्मपरमाणु रुक जाते हैं। इस सत्यका प्रकाश जैसे जैसे प्रबल होता जाता है वैसे ही वैसे संसारकी माया-संबंधिनी इच्छाएँ भी कम होती जाती हैं। मनमें जो इच्छाएँ होती हैं वे स्वपरको आनंद देनेवाली होती हैं। इससे अविरतिके कारण आनेवाले कर्म भी रुक जाते हैं। कर्मसंबंधको टिका रखनेवाली अविरति दूसरी भावना है।

जैसे जैसे आत्मप्रेम बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे इच्छाएँ भी आत्मभावनाओंको पोषण मिलने वाली ही होती जाती हैं और क्रोध, मान, माया व लोभकी प्रवृत्ति भी मंद होती जाती है। क्योंकि पुद्गल प्राप्त करनेकी इच्छाहीके लिए क्रोधादिका उपयोग करना पड़ता है। उन इच्छाओंके रुकनेसे क्रोधादि प्रवृ-

त्तियाँ भी रुक जाती है । मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति अधिक होनेपर भी कषायकी मंदताके कारण, वह नीरस होती है; कर्म-पुद्गलोंको खींचनेका बल उसमेंसे कम हो जाता है इससे आत्माके साथका कर्मपुद्गलोंका संबंध भी ढीला पड़ जाता है। आत्मस्वरूपमें स्थिर रहनेसे और वर्तमानकालमें उसका अनुभव करनेसे अज्ञान द्वारा जो कर्म आत्माके साथ पहले बंधे हुए है वे भी कम होते जाते है।

इस कथनका अभिप्राय यह है कि, मिथ्यात्वकी अज्ञान-दशासे आते हुए कर्म सम्यग्दर्शनसे रुकते हैं;—अविरति इच्छा-ओंसे आते हुए कर्मपुद्गल इच्छाओंको रोकने रूपी विरतिसे रुकते हैं,—क्रोध, मान, माया और लोभसे आते हुए कर्म-पुद्गल क्षमा, नम्रता, सरलता और सतोषसे रुकते हैं,—मन, वचन, कायसे आते हुए कर्म पुद्गल मनातीत, वचनातीत और कायातीत आत्मस्वरूपमें स्थिरता करनेसे रुकते हैं।

आते हुए कर्मोंको रोकनेका नाम संवर है। सत्तामें जो कर्म होते हैं उन्हें, शरीरादि द्वारा भोग लेनेका और आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर, उनके फल देनेके स्वभावको छिन्न कर देनेका नाम निर्जरा है। इस तरह महनत करके कर्मपुद्गलोंका आत्माके साथ जो संबंध है वह तोड़ा जा सकता है। देहमें या भवमें टिका रखनेवाले कर्मोंका आत्मप्रदेशोंके साथ जो संबंध है उसका छिन्न हो जाना ही बंधनमुक्ति या मोक्ष है।

जब कर्मोंके आवरण दूर हो जाते हैं तब आत्माकी अनन्त शक्तियाँ प्रगट होती हैं। जब आँखके जरासे पर्देके हट जानेहीसे हम आँखसे बहुत दूर तक देख सकते हैं तब आत्माके प्रदेशों परसे, शक्तियोंको रोककर रखनेवाले पर्देके हट जाने पर यदि आत्माकी अनन्त शक्तियाँ विकसित होती हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

इस तरह आत्माके साथ पुद्गलोंका जो संबंध होता है वह टूट जाता है और उसको तोड़नेहीके लिए त्याग, वैराग्य धर्म आदिकी आवश्यकता, महान गुरुओंने बताई है।

सार प्रश्न।

१. बंधनमुक्ति क्या है ? २. सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ? ३. मिथ्यात्वसे आते हुए कर्म कैसे रुकते हैं ? ४. अविरतिसे आनेवाले कर्म कैसे रुकते हैं ? ५. कषायसे आनेवाले कर्म कैसे रुकते हैं ? ६. मनादि योगसे आनेवाले कर्म कैसे रुकते हैं ? ७. संवर किसे कहते हैं ? ८. निर्जरा क्या है ? ९. कर्मावरण हटनेसे किसकी शक्तियाँ प्रगट होती हैं ?

पाठ ग्यारहवाँ।

देहधारी आत्माएँ।

जीव और आत्मा ये दो नाम एक ही पदार्थके हैं। चैतन्य

शक्ति यह आत्माका स्वरूप है। कर्मसे बँधी हुई आत्माएँ वारवार देह धारण करती हैं। आत्माके मूल स्वरूपमें भेद नहीं होता है। मगर शरीरकी अपेक्षा उसके जुदा जुदा भेद होते हैं। वे ही यहाँ समझाए जाते हैं। देह धारण करनेवाले जीव गतिकी अपेक्षा चार भागोंमें बाँटे जाते हैं। उनके नाम हैं,– देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी।

देवोंमें सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा ज्ञान और शक्ति विशेष होते हैं। मगर तीर्थंकर देव, सामान्य केवली और अप्रमत्त दशावाले महात्माओंकी अपेक्षा तो देवोंमें भी ज्ञान और शक्ति कम होते हैं। देवोंके शरीर सुंदर, नीरोग, मल व पसीने रहित और पवित्र पुद्गलोंके बने हुए होते हैं। उनके शरीरमें रुधिर, मांस, हाड, वगैरा चीजें नहीं होतीं। सुंदर आकृति, तेजस्वी कान्ति और महान् प्रतापी भव्य दृश्य उनकी पवित्र पुण्य कृतियोंका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे मनुष्योंकी तरह भोजन नहीं करते; जब उनकी खानेकी इच्छा होती है तब वे मनमें दृढ संकल्प करते हैं। संकल्पके साथ ही उत्तम पुद्गल उनके शरीरमें प्रवेश करते हैं। अमृतपानकी तरह उनको डकारें आती हैं। उनकी क्षुधा शान्त हो जाती है और उनका शरीर पुष्ट होता है। देव, मनुष्योंकी तरह गर्भसे पैदा नहीं होते। वे देवशय्यासे (सुंदर गुदगुदे बिछौनेसे) उत्पन्न होते हैं। जन्म होते ही वे सोलह बरसके लड़केसे कान्तिमान दिखते हैं।

देव बूढे नहीं होते, असमयमें नहीं मरते, निरन्तर युवा रहते हैं, छः महीने पहले उन्हें मौतकी खबर पड़ जाती है। उस समय उनके गलेमें जो पुष्पोंकी माला होती है वह मुर्झाती है, कल्पवृक्ष चलते दिखते है; कुछ विस्मृति होती है। मुखकी कांति फीकी पड़ती है। देवोंमें जिन्हें आत्ममार्गकी जागृति होती है वे वहाँ भी परमात्माके मार्गकी तरफ आगे बढ़ते हैं। तीर्थंकर देव और दूसरे ज्ञानियोंके पास वे आते है। धर्म सुनते है। प्रभु–मार्गमें आगे बढ़नेवाले जीवोंको मदद करते हैं। उनमें इतनी शक्ति होती है कि, वे संकल्प करनेहीसे अपना कार्य सिद्ध कर सकते हैं। वे चाहें तो अनेक जीवोंको मदद कर सकते हैं। दुखीको सुखी बना सकते है; ज्ञानी पुरुषोंसे भेट कराकर धर्ममार्गमें आगे बढ़ा सकते है। धर्मकी उन्नति कर सकते हैं। हाँ, जिस मनुष्यको वे मदद करें उसकी उतनी तैयारी होनी चाहिए। वे निमित्त कारण बनकर पुण्य कमा सकते हैं और उस पुण्यके फल स्वरूप वे मनुष्य योनिमें जन्म लेकर अपना मार्ग सुगम बना सकते है। देवोंकी मृत्युको च्यवन कहते हैं। मृत्यु होते ही कपूरकी तरह उनके शरीरके पुद्गल बिखर जाते हैं। उसमें दुर्गंध नहीं होती है।

मनुष्योंकी तरह देवोंके भी स्त्रियाँ होती है। वे देवी, देवांगना, अप्सरा आदिके नामसे पहचानी जाती है। कामवासना यद्यपि दोनोंमें होती है; परन्तु वे स्त्रियोंकी तरह गर्भ धारण

नहीं करतीं। विशेष पुण्यका बंध होनेसे जीव देवलोकमें जन्मते हैं।

देव चार भागोंमें विभक्त है। (१) वैमानिक (२) भुवनपति (३) ज्योतिषी (४) व्यंतर। वैमानिक देव उत्तम दर्जेके होते है। वे तेजस्वी, विशेष शक्तिवाले, प्रभावशाली और प्रबल पुण्य प्रकृतिवाले होते है। बारह देवलोक, नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर विमानमें उनकी वस्ती है। वे स्थान चंद्र सूर्यकी अपेक्षा भी ऊँचे है, और एक दूसरेके ऊपर है। अनुत्तर विमानके देव अत्यंत पवित्र और शान्तिमय जीवन वितानेवाले हैं। वे आत्म परायण रहकर आनंदमें झूलते हैं। सदा ब्रह्मचारी रहते हैं। दो देवलोकसे आगे देवियोंकी उत्पत्ति नहीं है। १

ज्योतिषी देव पाँच भागोंमें विभक्त है। सूर्य, चंद्र, ग्रह नक्षत्र और तारे। वे इन पाँचों प्रकारके देवोंके विमान है। उनमें वे रहते हैं। उन विमानोंको हम देख सकते है। कई विमान चलते है और बहुतसे स्थिर हैं। पृथ्वी विशाल है। उसके बहुतसे भागोंमें अनेक सूर्य और चंद्रमा हैं। यह ज्योतिषचक्र दो दूसरे विभागके पाँच जातिके देवोंसे भरपूर है। २

भुवनपति और व्यंतर जातिके देव इस पृथ्वीके नीचे हैं। उनके रहनेकी जगहको भुवन कहते हैं। व्यंतरोंके रहनेके स्थान उनसे भी नीचे हैं। उनके रहनेके स्थान 'नगरां' कहलाते हैं। यद्यपि उनके उत्पन्न होने और रहनेके स्थान पृथ्वीके नीचे हैं

तथापि वे इस पृथ्वीपर रह सकते हैं और क्रीडा कर सकते हैं। उनमें आयु, सुख और शक्ति ऊपरके देवोंकी अपेक्षा कम होते ह। नीचेके देवोंमें भूत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदिका समावेश होता है। उनमें ज्ञान भी होता है, अज्ञान भी होता है और दुःख भी होता है। पूर्व पुण्यके उदयसे वे पाँच इन्द्रियोंके अनुकूल सुख भोगते हैं। पुण्य समाप्त होने पर वापिस मनुष्यादि योनियोंमें आते हैं। ३, ४

यह पुण्यप्रकृतिवाले देहधारी जीवोंका-देवोंका वृत्तान्त हुआ।

सार प्रश्न।

१. देह कौन धारण क ता है? २. आत्माके भेद किससे पड़ते हैं? ३. वैमानिक देव कहॉ होन हैं? ४. ज्योतिषी देव कहॉँ होते हैं? ५. भुवनपति देव कहॉ होते हैं? ६. व्यंतर देव कहॉ होते हैं? ७. देवभूमिमें जन्म किससे मिलता है?

पाठ बारहवाँ।

मनुष्य तिर्यञ्चादि।

यद्यपि मनुष्योंकी जुदा जुदा देशोंकी अपेक्षा और वणिज-व्यापारकी अपेक्षा अनेक जातियाँ हैं; तथापि स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन विभागोंमें सारी मनुष्य जातिका समावेश हो जाता है। चारों गतियोंमेंसे जीव मनुष्य योनिमें उत्पन्न हो

सकता है। एक जगहकी आयु पूर्ण कर जीव जब दूसरी जगह जाता है तब तैजस और कार्माण शरीर अपने साथ ले जाता है। अन्य दर्शनवाले इनका परिचय सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरके नामसे कराते है। तैजस् शरीर आहारादिको पचाता है। उसमें गरमी अधिक होती है। कार्माण शरीरमें कर्मके संस्कार हैं। इस जिंदगीमें किये हुए कर्मके बीजभूत संस्कार दूसरे जन्ममें साथ ही जाते है। इस शरीरकी मददसे जीव जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ नया स्थूल शरीर बाँधनेका काम शुरू करता है। स्त्री पुरुषके सयोगसे गर्भस्थानमें जो रज और वीर्य गिरते है उसीमें पहले जीव आता है और अपना आहार, साथ लेकर आये हुए, शरीर द्वारा लेकर उसीसे औदारिक शरीर बाँधना प्रारंभ करता है।

फिर शरीर क्रमशः इन्द्रियोंकी श्वासोश्वासकी, भाषाकी और मनकी शक्ति संग्रह करता है। ये छः शक्तियाँ छः पर्याप्तियोंके नामसे पहचानी जाती हैं। इनमेसे दश प्राण प्रगट होते हैं। पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायब , श्वासोश्वास और आयु इन दशका नाम प्राण है। जीव इन्हीके आधार शरीरमें रहता है और शरीर पुण्य पापरूपी प्रकृतिके आधार रहता है। इन दस प्राणोंको हानि पहुँचानेका नाम हिंसा है। कारण जीवको इनसे स्नेह है; इसलिए उसको दुःख होता है। दस प्राणोंके वियोगका नाम मौत है। इस शरीरकी उत्पत्ति रज और वीर्यसे होती है। जीवको पोषण अंदरहीसे मिलता है। गर्भसे बाहर आने पर

दुग्ध और नाज आदिसे यह शरीर पुष्ट होता है; बढ़ता है। उसी शरीरका जब, अवसान हो जाता है, जिसे मौत कहते हैं; तब ये परमाणु पीछे बिखर जाते है। परमाणुओंका बिखर जाना ही मौत है; प्राणोंका शरीरसे जुदा हो जाना मौत है। तो भी देहको तथा प्राणोंको उत्पन्न करनेवाला, प्राणोंके रूपमें परमाणुओंको जोड़नेवाला आत्मा उनसे जुदा है। उसकी मौत नहीं है। वह तो इस स्थानको छोड़ कर, इस जन्ममें किये हुए कर्मोंके अनुसार दूसरी जगह जाता है, देह धारण करता है और सुख दुःखका अनुभव करता है। फिर वहाँ अन्य जन्मके योग्य कर्मकर आयुका बंध कर दूसरी गतिमें जन्म लेता है। इस तरह आत्मा शुद्ध स्वरूपके अनुभव विना; अपने आपको पहचाने विना, चार गतियोंमें, विविध जातियोंमें जन्म धारण करता है।

तिर्यंचगति के जीव।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले पशु, पक्षी आदि सब जातिके जीवोंको तिर्यञ्च कहते है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये पाँच स्थावर कहलाते है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाँच इन्द्रियवाले जीव त्रस कहलाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिमें जीव हैं। उनमें ज्ञान और शक्ति बहुत ही कम

होते हैं। उनके एक शरीर (स्पर्शना–इन्द्री) ही होता है। वनस्पतिके सिवा दूसरे जीवोंकी आयु कम होती है। वनस्पतिमें बड़े वृक्षादिकी आयु बड़ी होती है। उनके दुःख विशेष होता हैं। परन्तु ज्ञानशक्तिकी कमीके कारण; विकास प्राप्त जीवनके अभाव उन्हें दु:खका अनुभव कम होता है। मिट्टी, जल, वायु, उष्णता और वनस्पति ये उनके मुख्य आहार हैं। वनस्पतिके जीव अपनी जड़ोंद्वारा और बाहरी हवा आदिमेंसे खूराक लेकर अपना शरीर बढ़ाते है। इन प्रत्यक्ष दिखनेवाले एकेन्द्रिय जीवोंसे भी अधिक सूक्ष्म, नहीं दिखनेवाले, जीव पाँच प्रकारके होते हैं। कई तो इतने सूक्ष्म होते है कि, वे पहाड़को भेदकर और अग्नि शिखाके बीचमेंसे जा सकते है। वे रोके नहीं जा सकते; वे जलते भी नहीं है। ये जीव निगोदके जीव कहलाते है। निगोदके जीव अत्यंत सूक्ष्म है और अन्य जीवोंकी अपेक्षा अधिक हैं। इन सबका समावेश वनस्पति विभागमें होता है। इस निगोदमेंसे निकल कर ऊपर चढ़ता हुआ जीव मनुष्य आदि योनियाँ प्राप्त करता है। १

जिसके दो इन्द्रियाँ होती हैं वह दो इन्द्रिय कहलाता है। यहाँ इन्द्रियोंकी अपेक्षा जीवोंके भेदोंकी गिनती की जाती है। इसमें एकेन्द्रियकी अपेक्षा जीभ अधिक होती है। ये जीव प्रायः शंख, कोड़ी, सीप आदिमें उत्पन्न होते है। इनके अलावा जौंक, अलसिया, लक्कड़के कीड़े आदि भी दो इन्द्रिय जीव हैं। २

तीन इन्द्रिय जीवोंमें नासिका इन्द्री अधिक होती है। कानखजूरे, खटमल, जूँ, कीड़ियाँ, मकोड़े, उदेही, नाजके कीड़े, कंडोंके कीड़े, विष्टाके कीड़े आदि तीन इन्द्रिय हैं। ३

चार इन्द्रियवाले जीवोंमें आँखें अधिक होती हैं। बिच्छू, भँवरे, मक्खियाँ, डाँस, मच्छर, कसारी, करोलिया, आदि जीव चार इन्द्रिय हैं। ४

पाँच इन्द्रियवाले जीवोंमें चार इन्द्रियकी अपेक्षा एक कान अधिक होता है। ये जीव गर्भसे उत्पन्न होते है। गर्भ विना भी इनकी उत्पत्ति होती है। इसलिए इनकी गर्भज और सम्मूर्च्छिम ऐसी दो जातियाँ होती हैं। इनमें जमीन पर चलने वाले, आकाशमें उड़नेवाले और पानीमें रहनेवाले सभी पशु पक्षी और मगरमच्छादि आ जाते हैं। ४

इन जीवोंका जीवन विशेष रूपसे पराधीन होता है। इनमें अज्ञान अधिक होता है; पापका उदय अधिक होता है। प्रायः उनका जीवन धर्म करनेके अयोग्य होता है। अन्यका जीवन पराधीन करनेसे अपना जीवन भी इस तरह पराधीन हो जाता है।

नारकी जीव।

नारकीके जीव, इस पृथ्वीके नीचे पोले भागमें रहे हुए नरकमें उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पन्न होनेका स्थान चमड़ेके कुल्हड़ेसा, सँकड़े मुँहका और चौड़े पेटका होता है। उसे कुंभी कहते है। वे नपुंसक वेदवाले होते हैं। स्त्री पुरुष दोनोंकी स्थिति ए-

कसी होती हैं। वहाँ कामवासनाका प्रबल उदय होनेपर भी साध-नोंका अभाव होता है। उनमें से प्रायः जीवोंको अपने गत ज-न्मका ज्ञान होता है, मगर वे उसका उपयोग पश्चात्तापके सिवा कुछ भी नहीं कर सकते है। सब जीवोंके भाव पश्चाताप करनेके भी नहीं होते हैं। पूर्व जन्मके प्रबल पापके उदयसे यहाँ जन्म होता है। भयंकर पापोंको भोगनेहीके लिए यह स्थान है। उ-नकी आयु बहुत लंबी होती है। दुःख भोगनेहीके लिए उनका जन्म है। देवभूमिके सुखसे सर्वथा विपरीत स्थिति नारकीके जीवोंकी और स्थानकी है। इच्छा करने और प्राप्त करनेके लिए महेनत करने पर भी खानेको नहीं मिलता। प्यास कम नहीं होती। वहाँ सरदी इतनी अधिक होती है कि, मध्य सियाले-में हिमालय पर पड़नेवाली सर्दीसे लाखों गुनी सर्दी भी उसके किसी हिसाबमें नही है। इसी तरह उन्हालेके अंदर बंबूलके अंगारोंसे लाख गुणी उष्णता वहाँ होती है।

इस नरकके सात विभाग हैं। एक नरकसे दूसरेमें और दूसरेसे तीसरेमें ऐसे अधिकाधिक दुःख भूख, प्यास, सर्दी, उष्णता आदि है। परमाधामी देवोंका त्रास भी उत्तरोत्तर अधिक है। परस्परमें वे पूर्वभवके वैर याद कर करके लड़ते हैं। कर्मके कठोर बंधनसे बँधे हुए वे जीव नरकायु पूर्णकर वापिस मनुष्यादि गति पाते है।

यह देहधारी जीवोंके भेदोंका वर्णन हुआ। वे भेद कर्मकी

विविधताके कारण होते हैं। आत्मा तो सभी शरीरोंमें वही होता है।

सार प्रश्न।

१. मनुष्यकी उपत्पत्ति कैसे होती है ? २. प्राण किसे कहते हैं ? ३. मनुष्यके भेद किससे होते हैं ? ४. दूसरे जन्ममें साथ क्या जाता है ? ५. कार्माण शरीर किसका होता है ? ६. तैजस शरीर क्या काम करता है ? ७. मौत किसे कहते हैं ? ८. तिर्यंच किसे कहते हैं ? ९. जीव कहाँसे ऊपर चढ़ता है ? १०. स्थावर किसे कहते हैं ? ११. त्रस जीव कौनसे हैं ? १२. नारकी जीव कहाँ रहते हैं ? १३. उनमें वेद कौनसा है ? १४. जीव नरकमें क्यों जाते हैं ?

पाठ तेरहवाँ।

आत्मदृष्टि।

अपनी आँखें अपने शरीरको देखती हैं। बाह्य आँखोंकी तरह अपने एक आन्तर्दृष्टि भी होती है। हम इसके द्वारा आत्माको देखते हैं। हम जब आत्माका निरीक्षण करते हैं तभी वह आत्मदृष्टि भी कहलाती है। अनेक जीवोंकी दृष्टि और प्रवृत्तिकी जाँच करेंगे तो मालूम होगा कि, उनकी दृष्टि इस देह पर ही रहती है। इसीसे वे किसी भी मनुष्य या

पशुको देखकर कहते है कि, यह सफ़ेद है, यह लाल है; यह मोटा है, यह पतला है; यह लंबा है, यह छोटा है; अथवा यह कामी है, क्रोधी है, लोभी है, कपटी है, अभिमानी है, रागी है, द्वेषी है, संतोषी है, विरागी है, सच्चा है, झूठा है, आदि। इन बातोंको सुननेवाला ज्ञानी तत्काल ही समझ जाता है कि, ये बातें शरीरके, मनके या वचनके धर्मके संबंधकी हैं। मगर वक्ताने आत्मामें उसका आरोप कर दिया है। वास्तवमें तो मन, वचन और शरीरके धर्मोंसे परे जो आत्मा है उसे देखनेवाले जीव बहुत ही कम हैं।

एक हृष्टपुष्ट गायको यदि कोई चमार देखेगा तो वह कहेगा कि, इस गायका चमड़ा सुंदर और मोटा है; यदि कोई कसाई देखेगा तो कहेगा कि इस गायका मांस अच्छा और अधिक है, यदि कोई गवाला देखेगा तो कहेगा कि यह गाय बहुत दुग्ध देनेवाली है; यदि कोई किसान देखेगा तो कहेगाकि इस गायके बछड़े बहुत मजबूत बैल होंगे; यदि गौ-पूजक होगा तो वह उसे पूज्य समझ उसके चरणोंमें गिरेगा और यदि कोई तत्त्वज्ञ महात्मा उसे देखेगा तो उसके अंदर रही हुई आत्माकी तरफ़ नजर डाल आत्माकी लीलामय प्रवृत्तियोंका विचार करेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि, जीवकी जैसी दृष्टि होगी, वैसी ही सामनेवाली वस्तु उसे दिखेगी,

और वैसे ही हर्ष या शोक, राग या द्वेष उत्पन्न करनेमें वह वस्तु निमित्त कारण होगी।

अपनी अच्छी या बुरी नज़रसे सामनेवाली चीज बदल नहीं जाती; परन्तु अपनी नजर—अपने खयालके मुवाफ़िक सामनेवाली चीज कर्मबंधनमें निमित्त कारण होती है। पुद्गल पदार्थोंमें नज़र रखनेवालेको अनन्त शक्तिशाली आत्मा भी देहरूप दिखाई देता है और आत्मिक दृष्टिवालेको, यद्यपि शरीर चर्म—चक्षुओंसे दिखाई देता है तथापि आन्तर्चक्षुओंसे तो उसे उसके अंदर जिस चैतन्य शक्तिकी सत्तासे आत्मसत्ताका स्फुरण और विलास होता है वही दिखाई देता है। हरेकको चाहिए कि वह पौद्गलिक दृष्टिका त्याग कर आत्मिक दृष्टिका विकास करे,—उसे विशेष रूपसे जागृत करे। आत्मदृष्टिका विकास होनेसे उसका उपयोग सदा आत्माकारमें परिणत होता है। उपयोग यदि निरंतर आत्माकारमें परिणत होता है तो उससे आत्म स्वरूपका विकास होता है और यदि वह देहरूपमें परिणत होता है तो उससे रागद्वेष बढ़ते हैं; नये कर्म बँधते हैं और आत्मा सदा देहके साथ बद्ध हो जाता है।

यद्यपि बाहिर हमें शरीर दिखाई देता है तथापि जरा ध्यानसे देखनेपर उसके अंदरवाला आत्मा भी दिखाई दे जाता है। यह बात एक उदाहरणसे भली प्रकार समझमें आ जायगी।

'एक मोटे और अंधे काचका क़िला है। उसमें अनेक बारीक बारीक छिद्र हैं। उसमें दस मोटे मोटे छिद्र भी हैं। यह किला काले, सफ़ेद आदि अनेक रंगों से रँगा हुआ है। उस क़िलेमें एक दूसरा लाल रंगका किला और है। उसमें भी एक तीसरा काचका क़िला और है। उसका रंग यद्यपि सफ़ेद है तथापि मैल चढ़नेके कारण वह बिल्कुल स्याह लगता है।

उस तीसरे क़िलेमें एक दीपक है उसका प्रकाश इतना प्रबल है कि, चंद्र–सूर्यके प्रकाश भी उसके सामने फीके लगते हैं; उसका प्रकाश तीनों किलोंको भेदकर बाहर निकल आता है। काले किलेकी कालिमा उस प्रकाशको नहीं रोक सकती; लाल किलेकी लाली उसके प्रकाशमें बाधा नहीं डाल सकती और अन्धकारमय किलेका अंधकार भी उसके बीचमें नहीं आ सकता। उसका प्रकाश इतना प्रबल है कि, वह बारीक छिद्रों-द्वारा बाहिर आकार बाह्य पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है। यह छोटासा दृष्टान्त अपने अभिप्रायको बिलकुल स्पष्ट कर देता है,—पहला अंधे काचका किला अपना यह स्थूल–औदारिक शरीर है। छोटे छिद्र उसमें रोमरंध्र है। इस स्पर्शना–इन्द्रियके द्वारा बाहर निकलते हुए प्रकाशकी मददसे सर्दी, गरमी, मुलायमियत, खुर्दरापन आदिका बोध होता है।

दूसरा किला तैजस शरीर है। वह प्राय.लाल रंग का ही

है। उससे शरीरमें पाचनक्रिया होती है,—रक्त नियमित रूपसे फिरता है। वह उष्ण और गरम स्वभावका होता है इसी लिए वह लाल रंगका बताया गया है। उसके ही कारण स्थूल शरीरमें कमी ज्यादती होती है।

तीसरा किला कार्मण शरीर है। उसे अन्य लोग कारण शरीर भी बताते हैं। उसमें कर्मके सभी संस्कार रहते हैं। यद्यपि वह उज्ज्वल है तथापि कर्मसंस्कारोंकी विशेषताके कारण काले रंगका माना गया है। उसकी मलिनता या निर्मलताकी न्यूनाधिकताके कारण आत्मविकासमें भी न्यूनाधिकता होती है; इसीके सबबसे जीव साधारण या महान गिना जाता है। इन तीन किलोंके अंदर जो प्रकाशमय दीपक है वह आत्मा है। कार्मण शरीर यदि विशेष निर्मल होता है तो आत्मा प्रगट होता है और उसीके सबबसे जीव महात्मा, ज्ञानी, अवतारी पुरुष या तीर्थंकर समझा जाता है।

तीनों शरीरोंके अंदर जो प्रकाश है उसे, तीनों शरीरोंको भेदकर, एकाध बार ही देखना या उसका अनुभव करना आत्मदर्शन है; उस प्रकाशको जानना आत्मज्ञान है। उसी प्रकाशमें स्थिर रहना सम्यगचारित्र है। उस प्रकाशका सदाके लिए आवरण रहित हो जाना केवलज्ञान है। प्रकाशका पूर्ण रूपसे आवरण रहित होकर प्रकाशस्वरूप आत्माका देहसे सदाके लिए भिन्न हो जाना मोक्ष है।

इस दृष्टान्तका रहस्य समझनेके वाद यह वात हमारी समझमें भली प्रकार आ जाती है कि, वह प्रकाश आत्मा है; हम खुद हैं। इन तीन शरीरोंसे हम भिन्न हैं; इस समझका नाम आत्मदृष्टि है। वाह्यदृष्टि देहको देखती है; परन्तु अन्तर्दृष्टि देहोंके अंदर रहे हुए आत्माको देखती है; प्रकाशको देखती है; और देहका विचार भूलने लगती है। इस तरह वहुत समय तक अभ्यास करनेसे, देहका दिखना वंद होकर अन्तर् आत्मा ही दिखाई देने लगता है।

जैसे अपने देहको और आत्माको तुमने भिन्न देखना प्रारंभ किया वैसे ही जितने शरीरधारी तुम्हारे सामने आवें उन सबके वाहरी शरीरको न देखकर अंदर रहे हुए आत्म ही पर दृष्टि डालो,—आत्मप्रकाशहीको देखनेकी आदत डालो। इसीका नाम आत्मदृष्टि है। इस जन्ममें जो जीव इतना काम कर लेता है, मोक्ष उसके पास ही आ जाता है, आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। आत्मदृष्टि जागृत करनेके लिए निरंतर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। इसीका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र है।

सार प्रश्न।

१. आत्मदृष्टि किसे कहते हैं? २. देहदृष्टि किसे कहते हैं? ३. आत्मदृष्टिसे क्या लाभ है? ४. देहदृष्टि—पुद्गलदृष्टिसे क्या हानि

है ? ५. देहमें आत्माको कैसे देखना चाहिए ? ६. आत्मदर्शन किसे कहते हैं ? ७. आत्मज्ञान किसे कहते हैं ? ८. सम्यग्चारित्र क्या है ? ९. केवलज्ञान क्या है ? १०. मोक्ष किसे कहते हैं ?

पाठ चौदहवाँ ।

जड़ चैतन्यका विवेक ।

आत्मा ज्ञान गुणवाला है । प्रत्येक वस्तुको जाननेकी शक्ति आत्मामें है । ज्ञानहीसे वह सबको जानता है । आत्मामें किसी भी तरहका रूप नहीं है । पुद्गलमें लाल, पीले, सफ़ेद, काले आदि रूप हैं । आत्मामें किसी भी तरहकी गंध नहीं है । पुद्गलोंमें सुगंध और दुर्गंध दोनों हैं । आत्मामें कोई रस नहीं है । पुद्गलोंमे खट्टा, मीठा, कड़वा, आदि रस हैं । आत्मामें किसी भी तरहका स्पर्श नहीं है । पुद्गलोंमें हल्का, भारी, मुलायम आदि स्पर्श हैं । आत्मामें किसी तरहका शब्द नही है । पुद्गलोंमें अच्छा, बुरा आदि अनेक तरहके शब्द हैं । आत्मा अदृश्य और अरूपी है । पुद्गल दृश्य एवं रूपी हैं । संक्षेपमे यह है कि जिनमें शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श होते हैं उन्हें पुद्गल कहते हैं ।

धर्मास्ति कायमें यद्यपि जीव नहीं है तथापि वह अजीव पदार्थ है। उसमें जीव और पुद्गलोंको गति देनेका गुण है। आत्मामें ज्ञान गुण है, धर्मास्तिकायमें ज्ञान गुण नहीं है। इसलिए वह धर्मास्तिकायसे जुदा है।

जीव और पुद्गलोंको अवकाश (स्थान) देनेका गुण आकाशका है। आत्मामें ज्ञान गुण है, इसलिए वह आकाशसे जुदा है।

कालमें नये पुराने करनेका गुण है। आत्मामें ज्ञान गुण है, इसलिए वह आत्मासे जुदा है।

पाँच इन्द्रियाँ, मनबल, वचनबल, कायबल, श्वासोश्वास, और आयु द्रव्यप्राण हैं। वे भी पुद्गल ही हैं। आत्मा ज्ञान, शाश्वत आनंद, शाश्वत जीवन और अनंत शक्ति आदि भाव प्राणोंवाला है। इसलिए वह द्रव्यप्राणोंसे भिन्न ह।

आत्मा पुण्य पापसे जुदा है। सुख देनेवाले शुभ कर्मके पुद्गल पुण्य है और दुःख देनेवाले अशुभ कर्मके पुद्गल पाप है। आत्मा चैतन्य स्वभाव और आनंद स्वरूपी है, इसलिए वह पाप पुण्यसे जुदा है।

आस्रव और संवरसे आत्मा जुदा है। कर्मोंका आना आस्रव है और कर्मोंको आते हुए रोकना संवर। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। वह आस्रव तथा संवरको जाननेवाला है।

निर्जरा आत्मा नहीं है। आत्मप्रदेशोंसे ज्ञानावरणादि कर्मपुद्गलोंका कम ज्यादा प्रमाणमें खिर पड़ने—दूर होनेका नाम निर्जरा है। यह निर्जरा कर्मपुद्गलोंकी रूपान्तर दशा है। वह आत्मा नहीं है।

बंध भी आत्मा नहीं है। कर्म और आत्माके संयोगका नाम बंध है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है।

सारे कर्मपुद्गलोंका आत्मासे अलग होना द्रव्यमोक्ष है। वह आत्माका लक्षण नहीं है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहित आत्मा भावमोक्ष है। वही आत्मा है।

आठों कर्मोंकी प्रकृतियाँ आत्मा नहीं हैं। आठों कर्मोंसे भिन्न ज्ञानादि अनन्त शक्ति युक्त चैतन्य ही आत्मा है।

इस प्रकार विचार करनेसे मालूम होता है कि, जड और चैतन्य दोनोंका स्वभाव जुदा है इसलिए वे भिन्न भिन्न है। न जड चैतन्य होता है और न चैतन्य जड। पहले बता आये हैं वैसे दोनों द्रव्योंके स्वभावोंको भिन्न भिन्न जानने और उसके अनुसार ही अनुभव करनेका नाम आत्माकी जागृत दशा है। यह आत्मज्ञान ही मोक्ष देनेवाला है। आत्माको जाननेकी आवश्यकता सबसे पहले है। जिसने आत्माको जाना उसने, समझना चाहिए कि, सारे संसारको जान लिया; जिसने इस विश्वको समझा है उसने आत्माको भी समझ लिया है। स्वयं आत्मा यदि अपनेहीको न पहचाने तो वह कर्मबंधनसे आत्माको

छुड़ानेकी क्रिया क्यों करे ? किसके सहारे करे ? आत्माको जानने ही से बंध ओर मोक्ष तरफ़ प्रवृत्ति और निवृत्ति होती ह । दूल्हे विनाकी बरात क्या कामकी ? वह कहाँ जाकर खड़ी रहे ? ऐसे ही ज्ञान विना क्रिया किस कामकी है ? वह किसके लिए की जाय ? इसलिए सभी तरहकी क्रियाएँ करनेके पहले आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए ।

सार प्रश्न ।

१. आत्माका गुण क्या है ? २. जड़का गुण क्या है ? ३. धर्मास्तिकायका गुण क्या है ? ४. आकाशका गुण क्या है ? ५. कालका गुण क्या है ? ६. पुण्य किसे कहते हैं ? ७ पाप किसे कहते हैं ? ८. आस्रव किसे क० ? ९. संवर कि० ? १०. बंध किसे० ? ११. निर्जरा कि० ? १२. द्रव्य मोक्ष कि० ? १३. भावमोक्ष कि० ? १४. पहले किसे जानना चाहिए ?

पाठ पंद्रहवाँ ।

प्रेम और परोपकार.

प्रेमका लक्षण है; किसी भी तरहके स्वार्थकी इच्छा न कर, सब जीवोंपर समान भाव रख, उनकी मदद करना; उनकी भलाई करना और उन्हें परमार्थकी तरफ़ आगे बढ़ाना । जहाँ स्वार्थके

लिए मदद की जाती है वहाँ प्रेम नहीं होता है। प्रेम सदा निःस्पृह भावसे देता ही है उसमें बदलेकी आशा नहीं होती। जहाँ बदलेकी आशा है वहाँ प्रेम नहीं है। जिस पर हमने उपकार किया है वह हमारे उपकारको समझे, उसके लिए हमारा कृतज्ञ बने यह भावना जहाँ हो वहाँ भी, समझना चाहिए कि, प्रेम दूषित है। प्रेमकी भावनासे जो उपकार किया जाता है, उसके लिए उपकृत मनुष्य यदि उम्रभर कृतज्ञता प्रकट न करे तो भी उपकार कर्ताके मनमें किसी तरहका खयाल नहीं आता; वह उपकृत मनुष्यको किसीके सामने कृतघ्न नहीं बताता। प्रेममें मत, जाति, संबंध, देश, विदेश आदिका भेद नहीं होता। प्रेमी सारे संसारके आदमियोंको अपना भाई समझता है। शत्रु मित्रभावका तो उसके हृदयमें अभाव ही होता है। प्रेमी एक परमात्माहीकी प्रार्थना करता है। अपने दुःखकी बातें वह परमात्माके सिवा किसीके सामने प्रकट नहीं करता। कुदरतसे उसे जो कुछ मिलता है उसीको वह सादर स्वीकार करता है। प्रेमीके पास सिफ़ारिश पहुँचानेकी जरूरत नहीं रहती। प्रेमीके मनमें अपने परायेका भेद नहीं होता। जिसके मनमें यह भेद है वह प्रेमी नहीं है। प्रेमी सदा मस्त रहता है; सदा निर्भय होता है। प्रेमीका मूल परमात्मामें होता है और उसका विस्तार वह सारे संसारके जीवोंमें करता है। प्रेमीके समान पवित्र पात्र संसारमें दुर्लभ होते हैं। प्रेमी संसारके सारे जीवोंको प्रेमसे चाहता है।

' सबकी भलाई करना ' यही उसका मुद्रालेख होता है। वह कष्ट सहकर भी दूसरेकी भलाई करता है। वह यह कभी नहीं चाहता कि मेरी की हुई भलाईको लोग जानें। प्रेमी परमात्माको पहचाननेवाला होता है। परमात्माकी महान शक्तियाँ उसके प्रेम गुणके कारण उसमें प्रकट होती हैं। आत्माको जाने और उसका अनुभव किये विना कोई भी आदमी प्रेमी नहीं बन सकता है,—हाँ परोपकारी हो सकता है। जिन्होंने संसारसे प्रेम किया है; जो समस्त संसारको अपने आत्माके समान समझते हैं वेही सच्चे प्रेमी महात्मा हैं।

जबतक ऐसी प्रेमकी शक्ति अपने अंदर उत्पन्न न हो तबतक मनुष्यको अपना जीवन परोपकारमें बिताना चाहिए। दूसरेका उपकार करना और प्रत्यक्षमें उसके बदलेकी आशा न करना यह परोपकारका लक्षण है। परोपकारमें, अंदरूनी, ऊँचे प्रकारका मान होता है। यद्यपि प्रेमकी अपेक्षा परोपकारवृत्तिका दर्जा छोटा है तथापि स्वार्थवृत्तिकी अपेक्षा इसका दर्जा बहुत ही बड़ा है। यद्यपि परोपकारी अपने स्वार्थका त्याग करता है तथापि उसके अन्तरंगमें, परोपकारके बदले महान लाभ होनेकी आशा रहती है। परोपकारवृत्ति धीरे धीरे मनुष्यको प्रेमकी तरफ़ ले जाती है। परोपकारीके हृदयमें अपने भावी कल्याणकी सुंदर आशा होती है। यद्यपि यह इष्ट नहीं है तथापि वर्तमान स्थितिके लिए तो उत्तम ही है।

अपना पेट तो कौए और कुत्ते भी भरते हैं; मगर दूसरोंके दुखोंको दूर करनेमें अपने जीवनकी आहुति करनेवाले बहुत ही थोड़े होते हैं। महात्मा लोग कहते हैं कि अपनी शक्तिके अनुसार तुम दूसरोंकी मदद करो; तुम्हें अगर मददकी जरूरत होगी तो तुमसे विशेष शक्तिवाले तुम्हारी मदद करेंगे। न तो तुम पूर्ण हो और न इच्छाओं या आवश्यकताओंसे रहित हो इसलिए दूसरोंकी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ तुम पूरी करो; तुम्हारी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ भी पूरी की जायँगी।

मनुष्योंको यह विचार न करना चाहिए कि, हमारे पास इतने शक्ति या साधन नहीं हैं कि, हम दूसरोंकी सहायता कर सकें। तुम्हारे पास जितने शक्ति या साधन है उनमेंका थोड़ासा अंश भी तुम दूसरोंकी सहायताके लिए खर्च करो; जिसको तुमसे भी बहुत ज्यादा जरूरत है उसको दो। होसकता है कि, तुम नये कूए बावड़ी न खुदवा सको; पानीकी प्याउएँ न लगवा सको; मगर एक लोटा पानी तो, वास्तविक प्यासवालेको, पिला ही सकते हो। भले तुम सदाव्रत न खुलवा सकते हो मगर भूखेको एक रोटी तो दे ही सकते हो। भले तुम धर्मशाला न बँधवा सकते हो मगर धूपसे झुलसते हुएको, सर्दीसे ठिठरते हुएको अथवा पानीमें भीगते हुएको तुम अपने मकानमें या चबूतरे पर तो जगह जरूर दे सकते हो। भले तुम मुफ्त औषधालय न खुलवा सकते हो; परन्तु रोगग्रस्त पड़ौसीके लिए कहींसे लाकर औषध तो दे ही

सकते हो। भले तुम दुखीका दुःख न मिटा सकते हों; परन्तु मीठे शब्द बोलकर उसे आश्वासन तो अवश्य दे सकते हो। दुःखमें डूबते हुए मनुष्यको आश्वासन भी बहुतकुछ उबार लेता है; आधा दुःख दूर कर देता है। भले धर्मके बड़े बड़े व्याख्यान तुम न देसकते हो; मगर गुरु महाराजके मुखसे सुनी हुई धर्मकी बातें तो दूसरोंको सुना ही सकते हो। भूले हुएको भले तुम उसके अभीष्ट स्थान पर न पहुँचा सकते हो, परन्तु उस स्थानका पता तो अवश्यमेव बता सकते हो।

इस तरह यदि छोटे छोटे उपकारके काम करनेका अभ्यास डालोगे तो अन्तमें तुममें महान कार्य करनेकी शक्ति भी प्रकट होगी। यदि स्वयं तुम कोई उपकार न कर सकते हो तो परोपकारी जीवोंके साथ दुःखी जीवोंका समागम अवश्यमेव करा दो। जिसमें देनेकी शक्ति है उसको वास्तविक मदद पानेवाले नहीं मिलते। अतः उनको मिला देना भी परोपकार है।

प्रत्येक मनुष्यको सवेरे उठते ही कुछ न कुछ परोपकार करनेका नियम लेना चाहिए। ऐसा करनेसे परोपकार करनेके अनेक मौक़े तुम्हें मिलेंगे। प्रति क्षण तुम्हारी वृत्ति परोपकारके अंदर ही रहेगी। जो परोपकार करनेमें अपना जीवन बिताते हैं उन्हें महान पुरुषोंके आशीर्वाद मिलते हैं; उनका हृदय निर्मल और निरभिमानी बनता है; वे उच्च पद पानेके योग्य होते हैं। सत्तामें छुपी हुई आत्माकी अनंत शक्तियाँ परोपकार करनेसे बाहर

आजाती हैं; आत्मशक्तियोंके विकसित होजानेपर मनुष्य दुनियाके उद्धारक महात्माओंकी श्रेणीमें आजाता है । उस समय परोपकारके बदले उसमें प्रेमके शान्त झरने बहने लगते हैं; वह प्रेमी बनता है । अन्तमें वह परमात्माके साथ एकरूप बनजानेवाली अपनी आत्मशक्तियाँ प्रकट करता है; परम शान्ति पाता है । यह परिणाम परोपकारी और प्रेममय जीवन बितानेका है ।

सार प्रश्न ।

१. प्रेम किसे कहते है ? २. प्रेम किसके अंदर प्रगट होता है ? ३. प्रेमके अभावमें क्या करना चाहिए ? ४. परोपकारका अर्थ क्या है ? ५. परोपकारकी अपेक्षा प्रेम अच्छा क्यों है ? ६. परोपकार करनेसे क्या लाभ होता है ? ७. मनुष्योंको कैसे विचार नहीं करने चाहिए ? ८. सवेरे ही उठ कर किस बातका नियम लेना चाहिए ?

पाठ सोलहवाँ ।

तीर्थयात्रा-स्थावर तीर्थ ।

जिसकी मददसे या जिसके निमित्तसे जीव तैरता है उसे तीर्थ कहते है; आत्माकी अनंत शक्तियोंको प्रकट करनेमें जो

साधन मददगार होता है उसे तीर्थ कहते है। तीर्थ दो तरहके है स्थावर और जंगम अथवा द्रव्य तीर्थ और भाव तीर्थ। जो स्थिर रहता है उसे स्थावर तीर्थ कहते हैं। इस स्थावर तीर्थमें द्रव्य तीर्थका समावेश होता है; अथवा यह उसीका रूपान्तर है।

महान् तीथकर देव आदि पुरुषोंके जिस स्थामें जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण हुए है उस स्थानको स्थावर तीर्थ कहते है। जिस जगह पर अनेक महा पुरुषोंने तपस्याकी होती है; ध्यान किया होता है; आत्माका पूर्ण ज्ञान प्रकट किया होता है उस स्थानका वातावरण वहुत ही पवित्र होता है। उस भूमिका स्पर्श करनेसे हृदयमें शान्तिका प्रसार होता है। उस स्थलकी वातें सुनकर हृदयमें आनंद होता ह। उन महान पुरुषोंके जीवन चरित्रोंका स्मरण करनेसे हृदयमें अपूर्व शक्ति प्रकट होती है। उनके समान स्थिति वनानेके लिए मन उत्सुक होता है। जीवोंमें दूसरोंका अनुकरण करनेकी आदत होती है, वह इस निमित्तसे सफल हो जाती है। मन उनके समान वननेके लिये पुरुपाथ करता है। इस पुरुपार्थसे मनमें आश्चर्योत्पादक परिवर्तन हो जाता है। ऐसे पवित्र स्थलोंमें आकर और महान पुरुपोंके चरित्रोंका स्मरण कर जो मनुष्य मोहमें फँसे हुए, परिग्रहमें लिप्त और विपयमें लीन है वे भी सच्चे वैरागी वनते हैं; निर्मोही होते हैं और निस्पृह वनकर आत्माकी महान शक्तियोंको प्रगट करनेका प्रयत्न करते हैं। ये

तीर्थके निमित्त कारणसे होती हैं; या हो सकती हैं। इसके सिवा तीर्थयात्रा करनेका हेतु और क्या हो सकता है?

उपाधियोंसे परिपूर्ण व्यवहारमें लिप्त गृहस्थोंको वक्त निकाल कर यात्राके लिए जाना चाहिए; मगर तीर्थ यात्राके हेतुको लेश मात्र भी नहीं भूलना चाहिए। पवित्र होने, शान्ति प्राप्त करने और आत्मज्ञानमें अभिवृद्धि करनेके लिए ही तीर्थयात्रा करनी चाहिए। मौज–शौक़ करने या पाँच मित्र मिलकर आनंद मनायँगे इस हेतुसे तीर्थयात्रा न करनी चाहिए। तीर्थमें जाकर यथा साध्य तपस्या करना ब्रह्मचर्य पालना, परमात्माके नामका जप करना, दान देना पूजा करना, ध्यान करना, गुरुका समागम कर उनसे अपने कर्तव्यका और तत्त्वज्ञानका उपदेश लेना चाहिए। जब तक तीर्थमें रहना तब तक उपयुक्त प्रकारसे व्यवहार करना चाहिए और घर आकर भी नियमित रूपसे तत्त्वोंका मनन करना चाहिए।

तीर्थ भूमिमें जाकर लड्डू आदि गरिष्ठ पदार्थ न खाने चाहिए। वहाँ अनेक मनुष्योंका समागम होता है; उस समागममें अच्छी बुरी बातें भी हुआ करती है; उनसे दूर रहना चाहिए; किसीकी निंदा–स्तुति न करनी चाहिए। विशेष सोना भी न चाहिए। आलस्य या प्रमादमें निकम्मा समय न खोना चाहिए। तीर्थ भूमिमें जाकर सत्पुरुषोंका समागम करना चाहिए। सत्का अर्थ आत्मा ह या सत्का अर्थ आत्म-

श्रद्धा है ऐसे आत्मश्रद्धावाले मनुष्योंकी संगति करनी चाहिए। गुरु-आदिके पास बैठकर ज्ञान ध्यानका विचार करना चाहिए। एकान्तमें बैठकर परमात्माका नाम जपना चाहिए और शान्तिके साथ आत्माका ध्यान करना चाहिए।

तीथ पवित्र भूमि है। वह ज्वलंत ज्ञानमूर्ति साक्षात् प्रभु नहीं है। तीर्थ भूमि एक उत्तम निमित्त है। इसलिए वहाँ जाकर उससे लाभ उठाना है। लाभ तो अपने हृदयहीमेंसे प्रकट होता है, इसलिए पहले हृदयको जागृत करना चाहिए वह जागृति इस तीर्थस्थानमें रहकर, जिन महान पुरुषोंने ज्ञान, ध्यान, तपस्या, शुद्ध संयम आदिकी आराधना की है उनके उच्च और पवित्र जीवनका स्मरण करनेसे होती है। उन महान् पुरुषोंके जीवनचरित्र याद करनेसे अपना हृदय उत्साहित होता है और उसके अनुसार आचरण करनेसे पूर्णतया तीथयात्राका लाभ मिलता है।

सार प्रश्न।

१. तीर्थ किसको कहना चाहिए? २. तीर्थके कितने भेद है? ३. तीर्थमें जाकर क्या करना चाहिए? ४. तीर्थमें जानेका हेतु क्या है? ५. तीर्थभूमिका अर्थ क्या है? ६. लाभ कहाँसे प्रकट होता है?

पाठ सत्रहवाँ ।

तीर्थयात्रा–जंगमतीर्थ ।

जंगमतीर्थ अर्थात् हिलता, डोलता, चलता, फिरता तीर्थ। इस तीर्थमें तीर्थंकर देवसे लेकर सामान्य गुरु–साधु वर्गतकका समावेश होता है । यह तीर्थ चलता फिरता कल्पवृक्ष है। कल्पवृक्ष तो जो उनके पास जाते हैं उन्हींको इच्छित फल देते हैं, मगर ये साक्षात् जंगम कल्पवृक्ष, जो उनके पास जाते हैं उन्हें तो फल देते ही हैं; परन्तु जो उनसे दूर रहते हैं उनके पास–गाँव गाँव और नगर नगरमें–जाकर उन्हें भी फल देते हैं; उपदेश देते हैं; उनकी सोई हुई आत्माको जगाते हैं; और ऐसा लाभ पहुँचाते हैं कि लोगोंका जन्म, जरा और मरणका भय निकल जाता है और अन्तमें उन्हें परम शान्ति मिलती है । कल्पवृक्षका लाभ तो इस लोकके लिए ही मिलता है, मगर जंगम तीर्थ तो इह लोक और परलोक दोनों जगहके लिए फायदा पहुँचाते हैं ।

मनुष्योंको प्रायः आत्मलक्षवाले और आत्मजागृतिवाले तथा संयममार्गमें विशेष रूपसे गति करनेवाले गुरुओंका समागम होना कठिन है । जिनका आत्मा जागृत नहीं है ऐसे नामधारी जंगम तीर्थरूप साधुओंसे आत्मज्ञानका लाभ होना कठिन है । जो जंगमतीर्थ स्वरूप महान गुरु होते हैं वे निःस्पृह होते हैं; निर्लोभी होते हैं; स्वपर कल्याण उनका लक्ष्य होता है । वे

दुनीयवी झगड़ोंमें नहीं पड़ते, इन्द्रियोंका दमन करते हैं, मनको काबूमें रखते हैं और ज्ञान ध्यानमें सदा तत्पर रहते हैं। दयाके तो वे भंडार ही होते हैं। उनकी क्षमा समुद्रके समान होती है। सरलतामें मानों वे आनंदी छोटे बच्चे ही होते हैं। अभिमान तो उनके पास भी नहीं फटकता। भगवान् महावीरसे अज्ञान लोग पूछते थे कि, "आप कौन हैं?" तो आप उत्तर देते थे कि—"मैं भिक्षुक हूँ।" अपरिमित शक्तिके होते हुए भी जो निराभिमानी होते है वे ही महापुरुष कहलाते हैं। वे सदा परमात्माके मार्गमें चलनेवाले होते हैं।

ऐसे जंगम तीर्थोंके पास जाना चाहिए। जब कभी तीर्थ-स्थानमें जानेका अवसर मिले तभी पहले ऐसे ज्ञानियोंकी खोज करनी चाहिए। खास तौरसे भी ऐसे गुरुओंके दर्शनार्थ जाना चाहिए। ये जंगम तीर्थ भी तीर्थके समान होते हैं, इसलिए उनके दर्शनार्थ जाना भी तीर्थयात्रा करना है। ये जंगम तीर्थ जीते जागते होनेसे प्रश्नोंका उत्तर देकर अपने संशय मिटा सकते हैं; सन्मार्ग बता सकते हैं; कारण वे आत्मज्ञानके रस्ते चलनेवाले हैं। परमात्माका मार्ग उन्होंने थोड़ा बहुत देखा होता है। जिसने मार्ग देखा होता है वही मार्ग दिखा सकता है। दीपकहीसे दीपक जलता है। तीर्थभूमिमें उनके दर्शन हों तो वहाँ रहा जाय तबतक उनका समागम करना चाहिए यदि वहाँ न हों तो जहाँ ऐसे पुरुष हों वहाँ जाना चाहिए। उनके पास जाकर अपना

कल्याण कैसे हो इस विषयहीकी चर्चा करनी चाहिए। आवश्यक वातें पूछनेके वाद उठजाना चाहिए उनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट न करना चाहिए। उनके कहे अनुसार हमें अपने काममें लगना चाहिए और उन्हें उनका कार्य करने देना चाहिए। उनका समय नष्ट करनेसे उनके आगे वढ़नेमें वाधा पड़ती है; उनके पास जाकर व्यावहारिक झगड़ोंकी, किसीको हानि पहुँचानेकी या निंदा स्तुतिकी वातें न करनी चाहिए। उनसे केवल धर्महीकी वातें पूछनी चाहिए; वे ऐसी हों जिनका संवंध खास आत्माके साथ हो और जिन्हें हम आचरणमें ला सकते हों। पूछलेनेके वाद तत्काल ही वहाँसे हट जाना चाहिए। उनके संयमके लिए किन्हीं पदार्थोंकी आवश्यकता हो तो उसे पूरी कर देनी चाहिए। यह गृहस्थका उत्तम कर्तव्य है। ऐसा करनेसे दोनोंको लाभ होता है। अनुकूल सामग्रीकी सहायतासे वे आगे वढ़ते हैं, और स्वयं आगे वढ़कर अपनी शक्ति दुनियाको उन्नत वनानेमें लगाते हैं; संसारको आत्मोपदेश देनेमें अपना वल खर्च करते हैं।

ये महात्मा साक्षात् तीर्थस्वरूप होते हैं। उनके उपदेशसे जीव तैरते हैं। वे प्रभुके मार्गमें चलनेवाले होते हैं। सच्चा मार्ग वे ही दिखा सकते हैं।

इस जंगम तीर्थमें, तीर्थंकरों, गणधरों, आचार्यों और साधु साध्वियोंका समावेश होता है; और स्थावर तीर्थोंमें, तीर्थंकरोंकी

जन्मभूमि, उनका दीक्षास्थान और निवासस्थानका खास करके समावेश होता है। इन स्थावर तीर्थोंमें तीर्थकरोंके निर्वाण स्थान हैं, अष्टापदका पर्वत, शिखरजीका पर्वत, गिरनारजीका पर्वत, पावापुरी और चंपापुरी आदि। इनके सिवाय वह भूमि भी तीर्थस्थान मानी जाती है जो तीर्थकरोंकी चरणरजसे पवित्र हुई है। जैसे,—सिद्धाचलजीका पहाड़, तालध्वजगिरि, हस्तगिरि, आबू गिरि, तारंगाजी आदि। ये दोनों ही—स्थावर और जंगम-तीर्थ—जीवोंका उपकार करते है। स्थावर तीर्थोंकी अपेक्षा जंगम तीर्थ विशेष उपकारी होते हैं। जहाँ जैसी सुविधा हो वहाँसे वैसा ही लाभ उठा लेना चाहिए।

१. जंगम तीर्थ किसे कहते हैं? २ कैसे जंगम तीर्थोंसे लाभ होता है? ३. जंगम तीर्थकी आवश्यकता क्यों है? ४. जंगम तीर्थोंमें किनका समावेश होता है? ५. स्थावर तीर्थ कहाँ कहाँ हैं? दोनों तीर्थोंमेंसे हमें विशेष लाभ किनसे होता है?

पाठ अठारहवाँ।

आदर्श जीवन-त्यागमार्ग।

जो जीवन दर्पणकी तरह स्वच्छ, वगैर धब्बेका और पवित्र होता है वह आदर्श कहलाता है। ऐसे पवित्र जीवन अनुकरण करनेके योग्य होते हैं। जैसे कोई कारीगर सर्वोत्तम

वस्तु सामने रखकर उसके समान नई वस्तु तैयार करता है वैसे ही मनुष्यको चाहिए कि, वह महान् पुरुषोंके पवित्र जीवन सामने रखकर उनके समान शुद्ध और पवित्र होनेका प्रयत्न करे। आदर्श जीवनका अपने लिए यही उपयोग है।

परमात्माके पूर्ण स्वरूपमें पहुँचनेके लिए दो मार्ग हैं। एक मार्ग बहुत ही निकटका है; मगर विकट है; दुर्गम है। दूसरा मार्ग बहुत ही लंबा है; मगर वह सरल है। पासके मार्गका नाम-जिससे महान पुरुष गये हैं-त्याग है। दूरके मार्गका नाम है गृहस्थ-धर्म। त्यागमार्गका यह अर्थ होता है कि, आत्मभावमें जागृत होकर बाह्य पदार्थोंमें फैली हुई आत्मशक्तिको एकत्रित करना। अर्थात् आत्माका, आत्माके सिवाय सारी चीज़ोंका त्यागकर, अपने ही आपमें स्थिर होना। यह रस्ता बहुत ही नज़दीक है। विकट इसलिए है कि, इस मार्गपर चलनेवालेको सर्वस्वका त्याग करना पड़ता है; सारी वस्तुओंपरसे अपनी मालिकी उठा लेनी पड़ती है; ऐसा करनेमें चिरकालके अभ्यास वश आदमीको बड़ी मुश्किल होती है।

इस त्याग मार्गमें चलनेवाले जीवकी प्रत्येक प्रवृत्ति आत्माभिमुख होनेकी ही होती है। प्रवृत्ति या निवृत्तिके हरेक कार्यमें आत्मजागृतिका ही नाद सुनाई देता है। उसके जीवनके प्रत्येक भागमें आत्माहीका यशोगान होता है। शारीरिक धर्मको मदद करनेवाली प्रवृत्तिका जीवन भी आत्म-लक्ष्यके रंगमें

ही रंगा हुआ होता है। शारीरिक उपभोगके साधनोंमें भी आत्मजागृतिकी ही महक होती है।

परमात्माके मार्गका प्रवासी आत्मा अपनी इन्द्रियोंका पोषण करनेके लिए दूसरोंके प्राणोंका नाश नहीं करता। उसका किसीके साथ वैर विरोध नहीं होता। विश्वके आत्माको वह अपने समान ही समझता है। वह प्रत्येक देहमें सत्तागत रहे हुए परत्माहीको देखता है। वह सदा सत्य बोलता है। कोई भी चीज़ हो मालिककी इजाज़तहीसे लेता है। हमेशा ब्रह्मचर्यव्रत पालता है। मनके विकारोंको वह अपने वशमें रखता है। बाहरकी एक भी चीज उसकी मायाममताका स्थान नहीं होती। अपराध करनेवालेको भी वह माफ़ करता है। वह क्रोधको अपने पास आनेका अवसर नहीं देता। अपनी शक्तिसे दूसरोंके दुखी मनोंको भी वह शान्ति देता है। अहंकारको तो वह पास भी नहीं फटकने देता। मान या अपमान करनेवालोंको समान दृष्टिसे देखता है। उसके मनमें निंदा करनेवाले और स्तुति करनेवाले दोनों ही एकसे हैं। सोना और पत्थर दोनों उसकी दृष्टिमें समान हैं। वह स्वभावहीसे निर्दोष और सरल होता है। छलकपट समझता है मगर उसका उपयोग कभी नहीं करता। जो वस्तु जिस समय मिलती है–चाहे वह इष्ट हो या अनिष्ट–उसी समय उसको वह संतोषसे ग्रहण करता है। भविष्यकी चिंताकर किसी चीज़का संग्रह नहीं करता। परमातमा पर और अपने

भाग्य पर उसे पूर्ण श्रद्धा होती है। अपने पासकी कीमतीसे कीमती चीज भी सच्ची जरूरतवालेको देते नहीं हिचकिचाता। उसके हृदयमें प्रेम होता है मगर मोह नहीं होता। वह सब जीवोंकी भलाई चाहता है मगर किसीसे द्वेष नहीं करता। उसका कोई अपराध करता है तो उसे वह उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है, मगर उसके साथ कलह नहीं करता। किसी पर जूठा दोष नहीं लगाता मगर गुणकी प्रशंसा करता है। किसीकी चुगली नहीं करता मगर गुणग्राही होता है। सुखदुःखमें हर्षशोक नहीं करता। विकथाका त्याग कर धर्मकथा करता है। किसी पर नाराज़ नहीं होता मगर तपस्या ज़रूर करता है। शरीरकी शुश्रूषा नहीं करता मगर मनको पवित्र ही रखता है। सब जीवोंसे प्रेम करता है। सबका यथायोग्य विनय करता है। चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते, इस बातका खयाल रखता है कि, उसके द्वारा किसी जीवको हानि न पहुँचे। ऐसी भाषा बोलता है जिससे किसीको बुरा न लगे। अभिमानसे किसीका तिरस्कार नहीं करता। शरीरपोषणके लिए निर्दोष आहार लेते हुए भी शरीर पर ममता नहीं रखता। इन्द्रियादिका दमन करता है मगर उनसे द्वेष नहीं करता। मनमें अशुभ विकल्पोंको उठने नहीं देता मगर आत्मजागृतिके लिए शुभ विचार तो प्रति क्षण किया ही करता है। आवश्यकता होने पर मौन रहता है। मनके संकल्पोंको आत्म–उपयोगसे शान्त करता है। मनको

विचार रहित स्थितिमें लाकर आत्मोपयोगमें स्थिर करता ह। ध्यान भी करता है और मनको निश्चल भी बनाता है। आहार थोड़ा लेकर विशेष जागृति रखता है। थोड़ा सोता है और विशेष जागता है। मनुष्योंके साथ परिचय उनकी भलाईहीके लिए करता ह। श्रोताका कल्याण हो इस उद्देश्यहीसे उपदेश देता है। आत्मलाभहीके लिए एकान्तवास करता है। क्षण क्षणमें संसारका विस्मरण और आत्मोपयोगकी जागृति रखता है। सबसे प्रेमके साथ मिलता है। गर्वसे किसीका तिरस्कार नहीं करता। अशुद्ध और अशुभको तोड़नेकी प्रवृत्ति करता है और शुद्धको प्राप्त करनेके लिए निवृत्त भी होता है। दूसरेकी आत्माको जागृत करनेके लिए पुरुषार्थ करता है और अपनी आत्मस्थिति टिका रखनेके लिए निवृत्ति भी करता है। शुभाशुभ मल निकालनेके लिए प्रवृत्ति करता ह मगर पूर्ण स्वरूप प्रगट करनेके लिए निवृत्ति भी करता है।

प्रभुमार्गके पथिक साधुसाध्वी समुदायका जीवन इस प्रकारका आदर्श होता ह। परमात्माके साथ एकता करनेका यह बहुत ही अच्छा और निकटका मार्ग है। यह जितना अच्छा और निकटका है उतना ही दुर्गम भी है। कारण,—संसारमें प्रवृत्ति करानेवाली और उसीमें टिका रखनेवाली अहमन्यता होती है। इस मार्गमें उसको नष्ट करना पड़ता है, इसलिए अपना जीवन परमात्माके या ज्ञानी गुरुके आधीन करना पड़ता

है; उनकी दासता ग्रहण करनी पड़ती है। इस जीवको अहम-न्यता छोड़ना और गुरुकी दासता स्वीकारना बहुत ही कठिन मालूम होता है। वासना-परिपूर्ण मन ऐसा करना नहीं चाहता। मगर जिन जीवोंको परम शान्तिकी चाह है उन्हें तो हर सूरतसे यह आदर्श जीवन ग्रहण करना चाहिए। उनके लिए दूसरा कोई उपाय ही नहीं है।

सार प्रश्न।

१. आदर्श जीवन किसे कहना चाहिए ? २. आदर्श जीवनका उपयोग क्या है ? ३. परमात्मस्वरूप प्राप्त करनेके लिए नजदीककी राह कौनसी है ? ४. त्यागमार्गका अर्थ क्या है ? ५ त्यागमार्ग कठिन क्यों लगता है ? ६. प्रवृत्ति क्यों करनी चाहिए ? ७. निवृत्तिका हेतु क्या है ? ८. अपना जीवन परमात्माके अथवा गुरुके अर्पण क्यों करना चाहिए ?

पाठ उन्नीसवाँ।

गृहस्थोंका कर्तव्य।

यह मार्ग आदर्श जीवनवाले त्यागमार्गकी अपेक्षा यद्यपि सरल है तथापि इसके द्वारा अपने नियत स्थानपर पहुँचनेमें बहुत देर लगती है। बालजीव धीरे धीरे इस मार्गसे चलते हैं।

ालजीवोंका अर्थ छोटेबालक नहीं है; बालजीवोंसे अभिप्राय ड़ी शक्तिवाले, थोड़े ज्ञानवाले, थोड़ा पुरुषार्थ करनेवाले कर्मका विशेष बोझवाले।

ऐसे जीवोंमें दुनियवी ज्ञान विशेष होता है मगर आत्मज्ञान ा नहीं होता; शारीरिक शक्ति विशेष होते हुए भी परमा- ; मार्गमें वे उसका विशेष उपयोग नहीं करते। और उनमें ा, तृष्णा, इच्छा आदिका बोझा विशेष होता है। वे बाल ा इसलिए कहलाते हैं कि उनमें आत्म-प्रीति होती है; वे ात्माके मार्गमें चलनेका थोड़ा बहुत प्रयत्न किया करते है। जीवोंके धार्मिक जीवनको देश संयम भी कहते हैं। कारण पि वे सांसारिक आस्रववाला जीवन बिताते हैं तथापि वे ुके मार्गमें चलनेकी इच्छा और थोड़े बहुत प्रमाणमें प्रवृत्ति करते हैं।

इन देशविरति गृहस्थोंका यह कर्तव्य है कि, वे पिछली ़ पहर रात, कमसे कम दो घड़ी रात, रहे उस समय उठें। ाद्रा जब दूर हो जाय तब वे पंचपरमेष्टि मंत्र (नव स्मरण त्र) का स्मरण करें। इस बातकी सावधानी रक्खें कि उनके ास्तिष्कमें और कोई विचार प्रवेश न कर जाय। दाहिना या ायाँ पैर-जिसनयनेसे उस समय श्वास आता जाता हो उसी तरफका पैर-बिस्तरसे पहले जमीन पर रक्खें। यदि दोनों नयनोंमें उस समय श्वासोश्वास हो तो बिस्तरोंमें बैठे हुए ही

परमात्माका स्मरण करें; किसी काममें न लगें। यदि लगेंगे तो उस कार्यमें अवश्यमेव हानि होगी। जिस समय श्वास अंदर आता हो उसी सयय बिस्तरसे पैर नीचे रखना चाहिए। किसी कामको प्रारंभ करनेके पहले भी यह क्रिया करनी चाहिए। इस क्रियासे उस दिनका प्रत्येक कार्य सफल होता है; मन सुखी रहता है।

फिर रातके कपड़े बदल, यदि शरीर अशुद्ध हो तो उसे शुद्ध बना, पवित्र जगहमें बैठ नमस्कार मंत्रका जाप करना चाहिए। अपने मकानमें एक घर इसी कामके लिए अलग रखना और प्रत्येक धर्मकार्य उसीमें करना चाहिए। पहले सामायिक करना। सामायिकका अभिप्राय है दो घड़ी तक बैठ कर समभावपूर्वक ध्यान न हो सके तो परमात्माके नामका स्मरण करना। उसके बाद अंगीकार किये हुए व्रतोंमें यदि कोई दोप लगा हो तो उनकी शुद्धिके लिए प्रतिक्रमण करना। फिर अपने पूर्वजोंका–जो आदर्श जीवन बिता गये हों–स्मरण करना। उनके उत्तम जीवनके साथ अपने वर्तमान जीवनका मुकाबिला कर अपनी भूलें दूर करना। उनके उत्तम जीवनकी घटनाओंको याद कर अपने वर्तमान जीवनको उत्साहित बनाना। श्रेष्ठ विचार करना। मैं कौन हूँ ? मेरा कर्तव्य क्या है ? मैंने क्या किया ? अब मुझे क्या करना चाहिए ? आदि प्रश्न अपने आपसे पूछना। अपने दुर्बलता या दुर्गुण मिटाने और

गुण बढ़ानेके लिए निश्चय करना कि, आज मैं अवश्यमेव
ुक कार्य करूँगा। उसके बाद देवदर्शन करना। यदि मुनि
राज हों तो उनके दर्शनार्थ भी जाना और धर्मोपदेश सुन
शेष रूपसे आत्म जागृति करना। गुरुका विनय करना।
र्मिक विषयोंके बारेमें कुछ पूछना हो तो उन्हें पूछना। अपने
धर्मबंधुको यदि कोई कष्ट हो तो उसका कष्ट दूर करना;
ावश्यकता हो तो दूसरोंसे भी मदद कराना। जिनको धर्ममें
ंका हो उनकी शंकाएँ मिटाना यदि स्वयं न मिटा सकते हों
। दूसरोंके द्वारा मिटवाना। मुनिवर्गके संयममार्गमें यदि कोई
तिकूलता हो तो उसे मिटाना और उन्हें अनुकूलता कर देना।
ानकी अन्न, जल, वस्त्र, पात्र, स्थान आदिकी आवश्यकताएँ
ूरी कर देना।

प्रमादी गृहस्थको धर्ममार्गमें गुरु विशेष जागृत करें और
गृहस्थ उनके लिए धर्ममार्गमें चलनेकी विशेष सुविधा कर दें।
इस प्रकार दोनों परस्परमें सहायता करें और परमात्माके मार्गमें
आगे बढ़ें।

गृहस्थोंको नीतिमार्गसे धन पैदा करना चाहिए। जिनव्या-
पारोंमें जीवोंकी विशेष हिंसा और विशेष आरंभ न होता हो
उन्हीं व्यापारोंको करना चाहिए।

अपने आश्रित वृद्ध माता, पिता, बहिन, भाई, स्त्री, पुत्री
आदि सबको नीति और धर्मके मार्गपर चलाना चाहिए।

आहार ऐसा सात्त्विक करना चाहिए जिससे धर्ममें बाधा न पड़े। अपने यहाँ कोई साधु, संत, या याचक आवे तो उसे अपने पास जो कुछ हो उसमेंसे थोड़ासा भी जरूर देना चाहिए। उसका न तिरस्कार करना चाहिए और न शक्तिके होते हुए भी उसे निराश लौटाना चाहिए।

गृहस्थको अपने घरमें छोटासा देवमंदिर रखना चाहिए। इससे घरके आबाल वृद्ध—जो मंदिर जानेमें अशक्त हों वे भी—देवदर्शनादि धर्मक्रियाएँ भली प्रकार कर सकें; घरमें प्रभुभक्तिका वातावरण रहे और सबका कल्याण हो।

अपने मकानके पास ही उपाश्रयके समान कोई मकान करवालेना चाहिए। जिससे अपने घरके आदमियोंको धर्मक्रिया करनेकी सुगमता हो। यदि साधु या साध्वी आकर उसमें ठहरें तो, धर्मक्रिया करनेमें आलसी अथवा धर्मका अनादर करनेवाले भी, उनसे धर्मोपदेश सुनकर अथवा उन्हें धर्मक्रिया करते देखकर, धर्ममार्ग पर चलनेके लिए उत्साहित हों।

गृहस्थ, यदि शक्ति हो तो, भगवानका मंदिर करावे, धर्मशाला चुनावे, उपाश्रय बनवावे; गरीब निराधार अंधे या लूले लंगड़ोंको आश्रय दे। उनके दुःख दूर हों ऐसी सुविधा कर दे। श्रावक—श्राविकाओंको उपयोगी मदद दे। साधु—साध्वियोंकी सारसँभाल रक्खे। रोगीकी सेवा करे। ज्ञानके उपयोगी पुस्तकोंका संग्रह करे। दूसरोंको पढ़ने की अनुकूलता कर दे। अपने पुत्र

पुत्रियोंको अच्छी शिक्षा दे। विद्या प्राप्त करनेमें साधनहीन, बालक बालिकाओंको मदद दे। जात-पाँतका भेद न रखकर सर्व साधारणके उपयोगी संस्थाओंको—जैसे धर्मशाला, औषधालय, विद्यालय, अनाथालय, गौशाला और पिंजरापोल आदिको—दान दे। दानका प्रारंभ अपने घरहीसे करना। पहले अपने अनुयायियोंको, आश्रित मनुष्योंको, संबंधियोंको, धर्मबंधुओंको, ज्ञातिके मनुष्योंको, गॉवके लोगोंको और तब देशवासी बंधु भगिनियोंको क्रमशः सहायता करनी चाहिए.

गृहस्थको चाहिए कि वह तीन संध्या, देवपूजन, गुरुवंदन और दोनों समय प्रतिक्रमण करे। मादक और विकारोत्पादक आहार न ले। साधु संतोंकी सेवा करे। विशेष रूपसे उनकी संगति करे, बारहव्रत पाले और जीवनकी समाप्तिके समय अंत समयकी आराधना कर परमात्माका स्मरण करते हुए इस क्षणभंगुर देहका त्याग करे। यदि सत्यको समझा हो, विशेष उत्साह हो, और शक्ति तथा आयुष्य बाकी हो तो संसारमार्गका वैराग्य बलसे त्याग कर साधुजीवन स्वीकार करे।

सार प्रश्न।

१. बाह्यजीव कौन होते हैं? २. देश संयम किसे कहते हैं? ३. गृहस्थका कर्तव्य क्या है? ४. विस्तारसे नीचे उतरते क्या करना चाहिए? ५. प्रतिक्रमण क्यों करना चाहिए? ६. पूर्वजोंका स्मरण क्यों करना चाहिए? ७. धन कैसे पैदा करना

चाहिए ? ८. घरमें देवमंदिर किसलिए रखना चाहिए? ९. घरके पास उपाश्रय क्यों रखना चाहिए ? १०. दान किस क्रमसे करना चाहिए ? ११. अन्तिम समयमें क्या करना चाहिए ?

पाठ वीसवाँ ।

गृहस्थधर्म–बारह व्रत ।

जिनसे इच्छाओंका–पापोंका–निरोध होता है ऐसे व्रत गृहस्थोंको अवश्यमेव लेने चाहिए । पाप आनेके मार्गोंको रोकना सबसे पहले जरूरी है । यदि पापके कार्य सर्वथा नहीं छूट सकते हों तो जितने अंशोंमें छूट सकते हों उतने ही अंशोंमें उन्हें छोड़ना चाहिए । यदि बारह व्रत नहीं लिये जासकते हों तो एक, दो, चार, दस, जितने लिये जासकते हों उतने लेने चाहिए । यदि यावज्जीवन व्रत न लिये जायँ तो बरस, महीने या दिन जितने समयके लिये लिया जाय उतनेही समयके लिये अवश्यमेव ले लेने चाहिए । इसे देशविरति कहते हैं ।

श्रावकके बारह व्रतोंहीको गृहस्थधर्म कहते हैं । वे ये हैं, प्रथम स्थूल अहिंसा व्रत । स्थूल यानी मोटी हिंसाका त्याग करना । जीवके भेदोंका वर्णन ग्यारहवें और बारहवें पाठोंमे सविस्तर किया जाचुका है, इसलिए यहाँ संक्षेपहीमें उसका

वर्णन किया जायगा। त्रस और स्थावर ऐसे दोतरहके जीव होते ह। जो चलते फिरते है वे त्रस जीव कहलाते है, और जो स्थिर रहते हैं वे स्थावर जीव कहलाते हैं। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति ये स्थावर जीव हैं। इन त्रस जीवोंको जान बूझकर—निरपराधी जीवोंको संकल्प करके नहीं मारना गृहस्थका प्रथम व्रत है। घर बनाना आदि आरंभके कार्यमें यदि मर तो उसकी छूट रहती है। शेष स्थावर जीवोंका नियम गृहस्थोंसे नहीं पलता, तो भी उनपर उनका नृशंस व्यवहार तो कदापि नहीं होना चाहिऐ। १

दूसरा व्रत है झूठका त्याग। जमीनके संबंधमें, पशुपक्षियोंके संबंधमें, तथा मनुष्योंके संबंधमें झूठ न बोलना, झूठी गवाही न देना और किसीकी अमानत न खा जाना। ये पाँच मोटे झूठ है। इनका त्याग करना चाहिए। यह मृषावाद विरमण नामका दूसरा व्रत है। २

तीसराव्रत है चोरीका त्याग। गृहस्थको ऐसी चोरी छोड़नी चाहिए जिससे लोगोंमें बदनामी हो और राजसे दंड मिले रास्तेमें किसीको लूटना, घर फाड़ना, ताला तोड़ना, जेब काटना, आदि। इन सबका इस व्रतमें समावेश होता है। इसे अदत्तादान विरमणव्रत कहते है। ३

पुरुषोंको परस्त्रीका और स्त्रियोंको परपुरुषका त्याग करना

चाहिए। यह चौथा व्रत है। इसे मैथुनविरमणव्रत कहते हैं। ४

जमीन, सोना, चाँदी, अनाज, पशु, दास, दासी और घरके उपयोगमें आनेवाली तमाम चीजोंका शक्ति और इच्छा-के अनुसार नियम करना चाहिए। यह पाँचमा व्रत है। इस व्रतका उद्देश्य असन्तोष और इच्छाओंको काबूमें रखना है। इसका नाम परिग्रह विरमण व्रत है। ५

ये पाँच व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। अब जिन तीन व्रतोंका हम वर्णन करेंगे वे गुणव्रत कहलाते हैं। क्योंकि वे इन पाँच व्रतोंका पोषण करनेवाले हैं। अवशेष चार शिक्षा व्रत कहलाते हैं। वे नित्य आदरने योग्य हैं।

छठे व्रतमें दशों दिशाओंमें, वाणिज्य व्यापारके लिये, जाने आनेका नियम किया जाता है। चार दिशाएँ, चार विदिशाएँ, और ऊपर व नीचे ये दस दिशाएँ हैं। इस व्रतसे धर्मनाश होते, लोभ बढ़ते और पापका पोषण होते रुकता है। इस व्रतको दिग्विरमण व्रत कहते हैं। ६

सातवें व्रतका उद्देश्य, खान पानके पदार्थोंका, और उन पदार्थोंको प्राप्त करनेके साधनरूप व्यापारादिका विवेक करना है। मांस, मदिरा, कंद, मूल, बहुतसे बीजवाले फलादिका और जिनके रस, स्पर्श और गंधमें विकार हो गया है ऐसे चलित रसवाले पदार्थोंका, तथा सड़े हुए फल, फूल अन्नादिका त्याग करना चाहिए। व्यापारमें कोयले पाड़नेका, खानें खुदवानेका, सुरंग लग-

चानेका, यंत्रचलानेका, वनकटानेका, हिंसकशस्त्र बनाने और बनवानेका तथा ज़हरीली चीजें बेचनेका व्यापार नहीं करना चाहिए। जिससे नाशकारक परिणाम हो ऐसी, फ़ौजदारकी, जेलरकी, कोतवालकी और दाणी आदिकी नौकरी नहीं करनी चाहिए। विकालतका रोज़गार भी इन रोज़गारोंकी अपेक्षा, कम पापमूलक नहीं है। इस सातवें व्रतको भोगोपभोगविरमण व्रत कहते हैं। ७

आठवें व्रतमें अनर्थ दंडसे पीछे हटनेकी बात है। मातापितादि कुटुंबके लिए धनोपार्जनके हेतु जो कर्म--पापास्रवहेतु कर्म--करना पड़ता है वह अर्थ दंड है और विना प्रयोजनके पाप बँधनेका काम किया जाता है वह अनर्थ दंड है। इस व्रतके चार विभाग हैं। (१) रौद्र ध्यान उत्पन्न हो ऐसे मारकाट और संहारके विचार न करना (२) जहाँ कहना सुनना हमारा फ़र्ज़ न हो और जहाँ विवेक न रह सकता हो वहाँ कोई ऐसी बात न कहना, जिसके अनुसार सामनेवाला चलकर, पापकर्ममें लगे (३) जिनसे जीवोंकी हिंसा हो ऐसे शस्त्र, हल, हथियार, अग्नि और विषादि ज़हरी पदार्थ माँगे हुए नहीं देना (४) प्रमादका पोषण करनेवाली स्त्रियोंकी, देशकी, भोजनकी और राज्यकी विकथा न करना; युद्ध करनेवालेको उत्साहित न करना, पशुओंको आपसमें न लड़ाना, जूआ न खेलना, कामवासनाको जिससे उत्तेजना मिले ऐसा साहित्य न पढ़ना। घी, दूध, दही, तेल, गुड आदिके रस

भरे बर्तनोंको खुले न छोड़ना ताके उनमे पड़ कर जीव न मरें। यह अनर्थ दंड विरमण व्रत है। हिंसाका पोषण, वासनाकी उत्तेजना, वैर–विरोधकी बढ़ती, प्रमादका सेवन, और समयका दुरुपयोग आदि दुर्गुणोंको रोकना इस व्रतका उद्देश्य है। ८

नवमें व्रतमें कमसेकम २ घडी–अड़तालीस मिनिट–तक बैठकर धर्मध्यान करनेका नियम लेना पड़ता है। उतने समयमें परमात्माका ध्यान करना, श्रेष्ठ विचार करना और आत्मस्वरूपका चिन्तवन करना चाहिए। इस व्रतको सामायिकव्रत कहते है। इस व्रतका उद्देश है आत्मजागृति। ९

दसवें व्रतमें चौदह नियम धारने चाहिए। पहलेलिए हुए व्रतोंकी मर्यादाको संकुचित करना चाहिए। जो व्रत बहुत विस्तृत मर्यादाके साथ जीवनभरके लिये या दीर्घकालके लिए ग्रहण किये है उन्हें उसी दिनके लिए, बहुत ही थोड़ी छूटसे पालना चाहिए। इसका नाम देशावकाशिक व्रत है। १०

ग्यारहवें व्रतमें, विशेष रूपसे आत्मजागृति करनेके लिए चार प्रहर या आठ प्रहर तक धर्म ध्यानमें दृढ रहनेका नियम करना चाहिए। आत्मभावनामें विशेष रूपसे रत होनेके लिए उतने समयतक उपवास करना; ब्रह्मचर्य पालना, घरका व्यापार छोड़ना, शरीरके ममत्वको हटाना,–उसकी शुश्रूषा–शोभा–न करना चाहिए। इसको पौषधोपवास व्रत कहते है। ११

बारहवें व्रतमें अपनी न्यायोपार्जित लक्ष्मीमेंसे साधुजीवन

बितानेवाले ज्ञानी पुरुषोंका पोषण करना और उनकी सेवा भक्ति द्वारा गृहस्थोंका उद्धार करना इस व्रतका उद्देश्य है। इसे अतिथि–संविभाग व्रत कहते है। १२

परमात्माके मार्गमें तीव्र गतिसे चलनेमें जो अशक्त है ऐसे गृहस्थोंके लिए यह बारह व्रत रूप मार्ग बहुत ही श्रेष्ठ है। इस पर वे सरलतासे चल सकते हैं।

सार प्रश्न।

१ देशविरति किसे कहते हैं ? २ अहिंसाव्रत किसे कहते हैं ? ३ त्रस और स्थावर किसे कहते हैं ? ४ सत्यव्रतमें किसका त्याग करना चाहिए ? ५ अदत्तादान विरमणका क्या अर्थ है ? ६ पाँचवें व्रतमें क्या करना पड़ता है ? ७ अणुव्रत कितने हैं ८ गुणव्रत किसे कहते हैं ? ९ छठे व्रतका उद्देश्य क्या है ? १० सातवें व्रतमें किसका विवेक करना चाहिए ? ११ अनर्थदंड किसे कहते हैं ? १२ आठवें व्रतके चार भाग कौनसे हैं ? १३ सामायिकका समय कैसे बिताना चाहिए ? १४ सामायिकका उद्देश्य क्या है ? १५ दसवें व्रतमें क्या क्या बातें हैं ? १६ पौषधोपवास क्यों करना चाहिए ? १७ दान किसे देना चाहिए ? १८ दान कैसा देना चाहिए ? १९ ये बारहव्रत किनके लिए उपयोगी हैं ?

पाठ इकीसवाँ।

परमात्माका स्मरण।

हृदयको पवित्र बनानेके लिए परमात्माके पवित्र नामका बार बार स्मरण करना बहुत ही जरूरी है। रात और दिनके भागमें जितना समय मिले उतने समय परमात्माहीका नाम जपना चाहिए। रातका पिछला भाग जप करनेके लिए बहुत ही जरूरी है। जप करके हम अपने इष्ट देवका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं; उनके कृपापात्र बनते हैं। हमें उनकी कृपाकी बहुत ज्यादा जरूरत है। अपनी उन्नतिके मार्गमें जो विघ्न आते हैं उन्हें वे दूर करते हैं। हमें उत्तम मार्ग बताते हैं; यदि हम उल्टे मार्ग चलते हैं तो वे हमें सीधे मार्ग पर चलाते हैं; किसी भी तरहकी क्षुद्र वासनाके वशमें होनेसे हमें बचाते हैं; और हमारी बुद्धिको निर्मल करते हैं।

बार बार परमात्माका स्मरण करते रहनेसे मनमें खराब विचार नहीं आते। मन फाल्तु कामोंमें भटकता रुक जाता है। जप करनेसे पवित्र परमाणु आकर्षित होकर अपनी ओर आते हैं। अपने आसपासका वातावरण पवित्र बनता है। अपना पुण्य बढ़ता है; पाप घटता है। शरीरके परमाणु भी पवित्र बनते हैं। अपने संकल्प सिद्ध होते हैं; प्रतिकूलताएँ मिटती हैं; अनुकूल-

ताएँ मिलती हैं; हम आगे बढ़नेके अधिकारी होते हैं; लोगोंके प्रिय बनते हैं; व्यवहारकी व्याकुलता कम होती है; विशेष समय जाने पर वचनसिद्धि मिलती है; हम जो कुछ कहते हैं वही होता है। ये सारी बातें परमात्माका नाम बार बार जपनेसे होती हैं।

परमात्माके नामका स्मरण करते समय मनमें दूसरे विचार नहीं आने देना चाहिए। फल तभी मिलता है जब मन जपके सिवाय और किसी तरफ नहीं जाता है। मनके भटकनेसे जपकी शक्ति भी बिखर जाती है। जैसे, किसान खेतमें बीज बोकर इस बातका खयाल रखता है कि खेतमें घास आदि निकम्मे पौदे न उग आवें; वे उगते हैं मगर होशियार किसान निकम्मे पौदोंको उखाड़ डालता है; और उन्हीं पौदोंको वह जल आदिकी खूराक लेने देता है जिनके बीज उसने बोये हैं। ऐसा करनेसे फसल अच्छी होती है। इसी प्रकार हम जिस उद्दशसे परमात्माका स्मरण करते हैं उसी उद्देशको अपने जपकी सारी शक्ति मिलनी चाहिए; निकम्मे, घास फूसके समान, आनेवाले विचारोंको मनसे तत्काल ही निकाल देना चाहिए। जिससे अपने ध्यानका सारा बल जपहीमें लगे और उससे उत्पन्न होनेवाले मधुर फलोंका हम उपभोग कर सकें।

जप करनेमें ये भावनाएँ मुख्य होनी चाहिए–"हे परमात्मा! इस जपसे मेरा मन निर्मल हो; मेरा जीवन पवित्रताके साथ बीते;

मैं व्यवहार मार्गमें निर्लेप भावसे चलूँ। मेरी मलिन वासनाएँ शान्त हों। मुझे मेरे कर्तव्यका सदा खयाल रहे। मेरी प्रवृत्ति परमात्माकी तरफ़ हो। मेरे उदयमें आनेवाले सुखदुखोंको मैं निर्लेप भावसे भोग सकूँ। मैं नये बंधनोंमें न बँधूं। मेरी आत्माका विकास करनेके लिए जिन साधनोंकी आवश्यकता है वे मुझे मिलें। आत्माकी सारी शक्तियाँ प्रकट हों; आत्माकी व्यापक शान्ति प्राप्त करनेहीके लिए हे परमात्मा मैं निर्मलभावसे प्रार्थना करता हूँ। हे दयानिधि ! इस कार्यमें आप सदा मेरी सहायता करें।"

परमात्मासे ऐसी प्रार्थना करनेके बाद जप प्रारंभ करना चाहिए। यह भावना हर समय अपने हृदयमें रहनी चाहिए। उद्देशहीन जाप मूर्खताके समान है।

मेरे इष्ट देव पूर्ण हैं; पवित्र हैं; मुझे उन्नत बननेमें सहायता दे सकते हैं। वे अवश्यमेव मेरी सहायता करेंगे। जप करनेवालेके मनमें ऐसी दृढ श्रद्धा होनी ही चाहिए। इष्ट देवका नाम चाहे कुछ भी हो उसके लिए विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यके मनमें जैसी भावना और भक्ति होगी वैसा ही उसे फल भी मिलेगा। नमस्कार मंत्र बहुत उपयोगी है। हमें उसीका जप करना चाहिए।

नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं।

यह नमस्कार मंत्र है। यदि नव पदका जप करना हो तो उसके अंदर दूसरे निम्न लिखित चार पद जोड़े जा सकते हैं,—

नमो दंसणस्स, नमो नाणस्स, नमो चारितस्स, नमो तवस्स।

इस मंत्रमें पहले दो पदोंमें देव-परमात्माका समावेश होता है; पीछेके तीन पदोंमें गुरुका समावेश होता है और पिछले चार पदोंमें धर्मका समावेश होता है। इस तरह इस मंत्र द्वारा देव, गुरु और धर्म तीनोंको नमस्कार किया जाता है। इसके साथ ही इसमें ऐसा अनुक्रम भी है जिससे ये सारी स्थितियाँ नमस्कार करनेवालेको प्राप्त हों। प्राप्तव्य-प्राप्त करने योग्य जो वस्तु है वह इसी मंत्रमें है। इसलिए साधन भी यह है और साध्य भी यही है। जप करनेका उद्देश है पिछली स्थितियोंको पार कर प्रारंभकी परमात्मदशा प्राप्त करना।

इस सारे मंत्रका थोड़े अक्षरोंमें भी समावेश हो सकता है और उसका जप किया जा सकता है। जैसे **ॐ असि-आ-उसा नमः**, अथवा **ॐ अर्हनमः**, **ॐ महावीराय नमः**, **ॐ पार्श्वनाथाय नमः**, जप चाहे किसीका करो। कोई हानि नहीं है। जप हृदयके भागमें करना चाहिए। एकही बारमें जितने ज्यादा समय तक बैठ कर जप किया जाता है, उतना ही ज्यादा फल मिलता है। अन्य समयमें भी चलते, फिरते, उठते, बैठते, सोते, जागते प्रति क्षण यदि जप किया जाय तो अत्यंत

लाभ हो। वस्त्रादिकी शुद्धिके अभावमें होठ न हिलाकर जपकर लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि, सब स्थानोंमे, सब समयोंमें और सब स्थितियोंमें जप करना चाहिए। जप किये बिना नहीं रहना चाहिए। जीवनको उन्नत बनानेमें यह प्रारंभका मार्ग वहुत ही उपयोगी है।

सार प्रश्न।

१ जप किस लिए करना चाहिए? २ जप किसके नामका करना चाहिए? ३ जप करनेका उद्देश क्या है? ४ जप करनेके पहले क्या करना चाहिए? ५ जपमें किसका समावेश होता है? ६ जप कहाँ करना चाहिए? ७ जप कब करना? ८ बार बार जप करनेसे क्या लाभ होता है? ९ जपके समय दूसरे विचारोंके आनेसे क्या हानि है? १०

पाठ बाईसवाँ।

धर्मका फल क्यों नहीं मिलता है?

कई लोग कहा करते हैं कि हम परमात्माका स्मरणपूजन करते हैं, दान देते हैं, व्रत, तप, जप करते हैं; परोपकारमय जीवन विताते हैं, मगर हमारे मनमें शान्ति नहीं है। अनेक विचार आते रहते हैं। उपाधि कम होनेके बजाय बढ़ती जाती

हैं; तृष्णा भी दिन दूनी और रात चौगुनी होती है। मानसिक वृत्तिका सुधार नहीं होता और व्यवहार भी सुखपूर्वक चलानेके बदले बड़ी कठिनतासे चला सकते हैं। यदि धर्मका फल मिलता हो तो फिर वह हमें मिलता क्यों नहीं है? हम तो धर्मात्माको दुखी और पापीको सुखी ही देखते हैं। इसका कारण क्या है?

ज्ञानी महात्मा हमें इसका उत्तर देते हैं कि,—भाइयो! धर्मीको दुःख और पापीको सुख मिलना असंभव है। तुम धर्मात्मा और पापात्माकी परीक्षा करनेमें भूल करते हो। मनुष्य ऊपर बताया इस तरह एक तरफ़ धर्म करते हैं और दूसरी तरफ़ उससे ज्यादा पाप करते हैं। जो लोग धर्म करते हैं उसका फल तो ब्याज सहित भोगना चाहते हैं, मगर पाप करते हैं उसका फल भोगते घबराते हैं; उन्हें तुम धर्मात्मा कहते हो; मगर वे वास्तवमें धर्मात्मा नहीं हैं। एक तरफ़ धर्म करके एक मन बोझा कम करते हैं और दूसरी तरफ़ पाप करके दस मन बोझा बढ़ा लेते हैं और फिर कहते हैं कि, हमारा भार हल्का नहीं हुआ। आश्चर्य है। एक आदमी किसी तालावको ख़ाली करना चाहता है; तालावमेंसे एक तरफ़से दो मन पानी निकालता है और दूसरी तरफ़से बीस मन जमा कर लेता है। बताओ वह तालाव ख़ाली होगा या उसमें इतना पानी बढ़ेगा कि, वह तालावको ही नहीं बल्के उसके आसपासके वृक्ष, मकान आदिको भी ध्वंस कर देगा। तुम्हारे जीवनकी

भी यही दशा है। फिर बताओ कि, तुम धर्मका फल सुख कैसे प्राप्त कर सकते हो ?

यदि तुम्हें सुखी बनना हो तो पहले पापोंके आनेके मार्गोंको बंध करो। फिर यदि तुम थोड़ासा परमार्थ करोगे तो भी उसका शुभ फल तुम्हें इसी भवमें मिले बिना नहीं रहेगा।

मनुष्य मन, वचन और कायाद्वारा प्रवृत्ति करके अनेक प्रकारके पाप बीज बोते हैं। उसको रोकनेकी आवश्यकता है। उन सब पापोंका समावेश अठारह भागोंमें होता है। वे अठार भाग उत्तम अठारह भागोंद्वारा रोके जा सकते हैं। जैसे सर्द उष्णतासे, अंधकार प्रकाशसे और गरमी शीतोपचारसे मिटाइ जा सकती है वैसे ही अठारह पाप भी उनके विरोधी भावोंद्वारा रोके जा सकते हैं।

पापोंके आनेके मार्ग।	पापोंको रोकनेके मार्ग।
१. प्राणातिपात–जीव–हिंसा।	१. जीवहिंसा न करना।
२. मृषावाद–झूठ बोलना।	२. झूठ न बोलना।
३. अदत्तादान–चोरी करना।	३. चौरी न करना।
४. मैथुन–व्यभिचार करना।	४. ब्रह्मचर्य पालना।
५. परिग्रह–पदार्थोंका संग्रह करना।	५. त्याग अथवा प्रमाणसे पदार्थ रखना।
६. क्रोध–गुस्सा करना।	६. क्षमा करना।
७. मान–अहंकार, गर्व, अभिमान।	७. नम्रता रखना।

८. माया–छल, प्रपंच, कपट करना।	८. सरलता रखना।
९. लोभ–लालच करना।	९. संतोष रखना।
१०. राग–मोह करना।	१०. वैराग्य बढ़ाना।
११. द्वेष–ईर्ष्या करना।	११. प्रेम करना।
१२. क्लेश–झगड़ा करना।	१२. शान्ति–मेल मिलाप रखना।
१३. अभ्याख्यान–झूठा दोष देना।	१३. किसी पर दोष न लगाना।
१४. पैशुन्य–चुगली करना।	१४. चुगली न करना, किसीकी गुप्त वातें प्रकट न करना।
१५. रति अरति–हर्षशोक करना।	१५. समभावसे रहना।
१६. परपरिवाद–निंदा करना।	१६. गुणोंका वर्णन करना अन्यथा चुप रहना।
१७. माया मृषावाद–कपट सहित झूठ बोलना।	१७. सरलतापूर्वक सत्य कहना।
१८. मिथ्यात्व–अधर्मको धर्म बताना।	१८. सत्य धर्मको ही धर्म मानना।

इन अठारह पापोंके मार्गोंका अभिप्राय यह है,—

१. जीवोंकी हिंसा नहीं करना। जब दुःख तुम्हें प्रिय नहीं है तब वह दूसरोंको कैसे प्रिय हो सकता है? संसारमें,

तुम्हारे खानेके लिए अनेक पदार्थ हैं। तुम्हारे क्षणिक स्वादके लिए किसी जीवका जीवन न लो। जीवन जैसे तुम्हें प्रिय है वैसे ही औरोंको भी प्रिय है। अपने मौज शौक़के लिए जीवोंके प्राण न लो; तुम क्या अमर हो कर आये हो? याद रखना कि, जब तक तुम दूसरोंको मारोगे तब तक तुम भी मारे जाओगे। यदि दूसरोंको निर्भय करोगे तो तुम भी निर्भय बनोगे। यदि दूसरोंको दुःख दोगे तो तुम्हें भी दुःख मिलेगा। तुम क़ुदरतके कानूनसे किसी तरहसे भी बच नहीं सकते हो। क्योंकि तुम भी कर्माधीन जीवित प्राणी हो। दूसरे भी तुम्हारे ही जैसे हैं। थोड़े जीवनके लिए वैरविरोध न बढ़ाओ। पृथ्वीका धन न तो तुम साथ लेजा सकोगे और न तुम्हारे पहले कोई अपने साथ ले गया है। इसलिए खानेपीने और ऐशोआराम के लिए न किसीसे लड़ाई करो और न किसी जीवकी हिंसा ही करो।

२. झूठ न बोलना—चाहे कैसा ही कठिन समय हो मगर कभी झूठ न बोलो; सच ही बोलो। झूठ बोलनेवालेके मुखमें अनेक प्रकारके रोग होते है।

३. चोरी न करना—यदि कोई तुम्हारी चीज़ चुरा ले जाता है तो तुम्हें दुःख होता है उसी तरह दूसरेको भी उसकी चीज़ चुरानेसे दुःख होता है। यह समझ कर चोरी न करो। चोरी करनेवाला दरिद्री होता है।

४. परस्त्रीका त्याग करना—तुम हमेशा इस बातका खयाल रखते हो कि कोई तुम्हारी स्त्रीकी तरफ बुरी निगाहसे न देखे। तब तुम्हें क्या हक है कि तुम दूसरोंकी स्त्रियोंको बुरी निगाहसे देखो? इसीसे ईर्ष्या बढ़ती है।

५. परिग्रहका अभिप्राय है अपनी जरूरत से ज्यादा धन, धान्य, सोना, चाँदी, जमीन, पशु आदि पदार्थोंका संग्रह करना; उन्हें प्राप्त करने तथा उनकी रक्षा करनेके लिए अनेक तरहके संकट भोगना और दूसरे जीवोंको भी सताना। यह पापका मार्ग है। इस लिए अपनी जरूरतके माफिक ही वस्तुएँ रखनेका नियम करना।

६. क्रोध करना और दूसरोंको क्रोध दिलाना यह पाप है अतः क्रोधके समय क्षमा रखना और क्रोधको निष्फल करना।

७. मान, अहंकार, गर्व, अभिमान आदि एक ही स्थितिके दर्शक शब्द है। अभिमान कब किसका रहा है? अपने पास कौनसी अलभ्य वस्तु है? कौनसा पूर्ण ज्ञान है? कौनसा महान बल है? कि जिस पर हम गर्व करें। इसलिए नम्रता रखना और ज्ञानी एवं गुणी जनोंका विनय करना चाहिए।

८. कपट, छल, प्रपंच, दगा, माया ये सब एक ही चीजके नाम हैं। पुण्यके बगैर न कोई पदार्थ मिलता है और न कोई स्थिर ही रहता है। इस लिए दगा करना सर्वथा अनुचित है।

९. लोभका त्याग करनेके लिये सन्तोष रखना चाहिए, उदार बनना चाहिए और आवश्यकतावालेको शुभ निष्ठासे मदद करना चाहिए।

१०. रागका अर्थ है मोह। जो मोह रखनेकी चीज़ नहीं है उसपर कभी मोह नहीं करना चाहिए। जैसे परधन परस्त्री आदि। शरीर, धन, अधिकार, मान आदिका वियोग अवश्यम्भावी है, यह सोचकर हमेशा वैराग्यभावनाको उत्तेजित करना चाहिए।

११. द्वेष अर्थात् किसीसे ईर्षा न करना चाहिए। गुणा-रागी होकर प्रेम बढ़ाना चाहिए। द्वेष करनेसे दूसरेका बुरा हो भी और न भी हो, मगर अपना बुरा तो होता ही है।

१२. लड़ाई, गालीगलोज, लठंलठ्ठा, जूतंफाग आदि सबका मूल कारण झगड़ा ही है। आपसमें सदा मेल बढ़ाना चाहिए, क्योंकि हमें छोटे बड़े सभीसे काम है। झगड़ेसे लक्ष्मीका नाश होता है; वैर विरोध बढ़ता है।

१३. किसी पर झूठा दोषारोप नहीं करना चाहिए। कई बार जब सच्ची बातसे भी हमें दुःख होता है, तब झूठा कलंक लगानेसे दूसरेको कैसा कष्ट होता होगा यह खुद ही सोच लेना चाहिए। कितने ही तो अपने सिर पर झूठा दोष लगनेसे आत्महत्यातक कर लेते है। इसका बदला बहुत ही बुरा मिलता है।

१४. किसीकी चुगली नहीं करनी चाहिए। किसीकी पीछेसे बातें करना; और किसीकी गुप्त बातको प्रकट करना चुग़ली है।

१५. सुखदुःखमें हर्ष या शोक न करना। सुख अपने उत्तम कर्मोंका फल है। उसको भोगनेसे पुण्य कम होता है। दुःख अपने बुरे कर्मोंका फल है। उसे भोगनेसे अपना पाप कम होता है। इसलिए सुखदुःखमें हर्ष या शोक न कर समता भाव रखने चाहिए। ऐसा न करनेसे उन्हें भोगते समय और नये कर्म बँधते हैं।

१६. किसीकी निंदा नहीं करनी चाहिए। बुरे काम करने वालोंको दंड मिले बिना नहीं रहता। उनकी निंदा करके मनुष्य उनके पाप धोता है। ऐसे बग़ैर किरायेके धोबी हमें क्यों होना चाहिए? निंदासे वैर–विरोध बढ़ता है।

१७. कपट सहित झूठ न बोलना चाहिए। बताना कुछ और व देना कुछ और ही कपट है। फिर उपरसे कहना कि मैंने यही बताया था यह झूठ है। इसमें एक साथ दो पाप होते हैं।

१८. मिथ्यात्त्व। आत्मा सत्य है, नित्य है, पवित्र है, इसके बजाय शरीरको आत्मा मानना यही मिथ्यात्त्व है। इसी तरह जो देव, गुरु और धर्म अपनी आत्मोन्नतिमें मददगार नहीं होते उन्हें सत्य मानना भी मिथ्यात्त्व है।

इन पाप स्थानकोंका त्याग करनेके बाद जो धर्म क्रिया जाता है उसका फल बहुत ही जल्दी और अच्छा मिलता है। इन पापोंको सुबोशाम याद करलेना चाहिए। अर्थात् यह देख लेना चाहिए कि मैंने दिनभरमें या रातभरमें इन अठारह पापोंमेंसे कौनसा पाप किया है। जो पाप किया हो उसके लिए परमात्माकी साक्षीसे क्षमा माँगनी चाहिए। फिरसे ऐसा दोष नहीं करनेका नियम करना चाहिए और मौका आने पर उससे बचना चाहिए। इस प्रकार निरंतर दो बार विचार करलेनेसे अनेक दोष कम हो जाते हैं। इस प्रकार आते हुए दोषोंको रोकना अर्थात् नवीन कर्मोंका संचय न होने देना और धर्ममार्ग पर चल कर पूर्व संचित कर्मोंको निकाल देना चाहिए। ऐसा करनेसे आत्मविकास बहुत ही थोड़ी महेनतसे होता है। अवसर पर मनुष्य थोड़ा बहुत धर्म तो करते हैं; साथ ही उपर्युक्त प्रकारके पाप करते जाते हैं इसलिए उन्हें धर्मका फल जैसा चाहिए वैसा नहीं मिलता।

सार प्रश्न।

१. मनुष्योंकी शिकायत क्या है ? २ धर्मीकी परीक्षामें मूल कहाँ होती है। ३. पापका समावेश कितने भागोंमें होता है ? ४. पापबीज कैसे बोये जाते हैं ? ५. पापके आनेका मार्ग कौनसा है ? ६. अठारह पापोंके नाम और उनका भाव बताओ। ७. किस वक्त धर्म करनेसे उसका फल अच्छा मिलता

है ? ८. पापको कब और कितनी वार याद करना चाहिए ? ९. आत्माका विकास कब होता है ?

पाठ तेईसवाँ ।

आत्मश्रद्धा,-अपने पर विश्वास ।

आत्मा अमर है । उसके ज्ञान और वल बेहद हैं । जिस आत्मामें सारे संसारको जाननेका ज्ञान है और सारे जगत पर सत्ता चलानेका बल है, वह आत्मा मैं स्वयमेव हूँ । मुझे अपने आत्मवल पर पूर्ण विश्वास है । उसमें कोई विघ्न नहीं डाल सकता है । मुझमें विघ्नोंको हटानेका बल है । महान् विपदाओं के समय भी मेरी आत्मश्रद्धा अटल रहेगी । प्रबल भयके वक्त भी मैं अपने आत्मविकासका कार्य किये ही जाऊँगा । मेरा ज्ञान बातोंहीमें नहीं रहेगा । मैं अभीसे सत्याचरण करना शुरू करता हूँ । मैने अज्ञान दशामें जो बंधन डाले थे उनके सिवाय अन्य कोई बंधन मेरे नहीं है । इस लिए उन्हें दूर करनेके लिए मुझे ही दृढताके साथ प्रयत्न करना होगा । दूसरा कोई मुझे मदद देगा इस भावनाको मैं अभीसे छोड़ता हूँ । अब मैं परमुखावेक्षी न रहूँगा । सुख दुःख विरासतमें मिली हुई चीजें नहीं हैं । ये मेरी उल्टे रस्ते की हुई कोशिशोंका फल है । अब सीधे रस्ते कोशिश करके उन्हें दूर करूँगा । ये

बादल बिखेरे जासकते हैं। मैं विघ्नोंको विघ्नरूप नहीं मानता। ये तो मुझे पुरुषार्थ करनेका उत्साह दिलाते हैं। दुःख या विघ्नोंके अस्तित्वसे मेरा सामर्थ्य विशेष रूपसे प्रकट होता है। इनके कारण मैं द्विगुण उत्साहसे काम कर सकता हूँ। मैं ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाऊँगा त्यों ही त्यों मेरे संयोग भी अवश्यमेव बदलते जायँगे। परिस्थितियोंके आधीन होनेमें नहीं बल्के उन्हें आधीन करनेहीमें सच्ची वीरता है। अनुकूल परिस्थितिमें रहनेकी इच्छा करना तो निर्बलता है; उससे अपनी शक्ति दबी रहती है; पुरुषार्थ करनेका अवकाश नहीं मिलता। इसलिए प्रतिकूल परिस्थिति-योंको अपना मित्र समझ मैं उनका स्वागत करता हूँ। मेरे प्रतिकूल मित्रो! आओ! तुम्हारे आनेसे मुझे विशेष जागृति रखनी और कोशिश करनी पड़ती है। मैं स्वार्थका—लालचका दास हरगिज़ नहीं बनूँगा। क्योंकि उससे मेरी प्रवृत्ति रुक जाती है। मैं अपने भाग्यका खिलोना नहीं बनूँगा। मैं उसे बदल डालूँगा। मुझमें अनन्त शक्ति है इस भावनासे मुझे कार्य करनेका जो उत्साह मिलता है वह और किसी भी तर-हसे नहीं मिलता। इस आत्मश्रद्धाके कारण ही मैं कार्य कर सकता हूँ। मैं अपनी शक्तिके बारेमें ज़रासा भी शक नहीं करूँगा। मुझे इस पर थोड़सा भी संदेह नहीं है। यदि मैं आत्म शक्तिहीमें शंका करूँगा तो कोई भी महत्त्वका काम मुझसे नहीं होगा। मेरी आत्मश्रद्धाको,—मैंने जो कुछ निश्चय

किया है उसको पूरा कर डालनेका मुझमें बल है मेरे इस विश्वासको,—जो डिगानेका प्रयत्न करता है वह मेरा हितैषी नहीं ह। मुझे सबसे बड़ी हानि पहुँचानेवाला वही है। जिसमें महान आत्मश्रद्धा की आवश्यकता है ऐसे स्वीकृत कार्यको पूरा करनेका मुझमें बल है; इस प्रकारका विश्वास रखनेवाले ही ऐसे महान कार्य कर सकते हैं जिन्हें संसार आश्चर्यकी दृष्टिसे देखता है। महान कामको पूरा करनेमें मेरी आत्मश्रद्धा, मेरी आशा और मेरा आग्रह ही मुझे मदद देते हैं। ये ही मेरे मित्र हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि, मनुष्यमें महान शक्ति, विशाल बुद्धि और ऊँची विद्या होते हुए भी वह काम उतना ही कर सकता है जितनी उसमें आत्मश्रद्धा होती है। किसीके कहनेसे या विघ्नके आजानेसे मैं आत्मश्रद्धामें न्यूनता नहीं आने दूँगा। मेरी संपत्ति नष्ट हो जाय, मेरा स्वास्थ्य बिगड़ जाय और लोग मेरा अपमान करने लग जायँ तो भी जबतक मुझे आत्मश्रद्धा है तबतक उदयकी आशा है। यदि मुझे अपने पर पूरा भरोसा होगा और उसके अनुसार मैं आगे बढ़ता ही रहूँगा तो संसारको मेरे लिए जगह करनी पड़ेगी।

मै अपने आपको, क्षुद्र समझकर, कभी निर्बल नहीं बनाऊँगा। यदि यह मान लूँगा कि मैं दूसरोंके समान श्रेष्ठ और सबल नहीं हूँ तो मेरा जीवन अवश्यमेव क्षुद्र और निर्बल बन जायगा। मनुष्य जितनी अपनी क़ीमत करता है, उससे

अधिक दूसेरी कभी नहीं करते। यदि आदमी तुच्छ मनुष्यकी तरह अपना जीवन बितायगा तो वह कभी महावीरके समान प्रचंड पराक्रमी नहीं बन सकेगा। कारीगर वैसी ही मूर्ति तैयार कर सकता है जैसा उसके सामने नमूना होता है।

मुझे अपनी शक्तिका उपयोग कैसे करना चाहिए। इस बातको यदि मैं न समझूँगा तो मुझे, प्रबल शक्ति होते हुए भी, अपना जीवन साधारण स्थितिमें बिताना पड़ेगा। लोगोंमें अनंत बल है, मगर उसकी उन्हें खबर नहीं है, इसी लिए वे साधारण मनुष्यकी तरह जीवन विताते हैं। यदि मैं अपने आपको मुठ्ठीभर धूलसे अधिक सशक्त न समझूँगा तो मुझपर बलवान चढ़ेंगे और मैं उनके पैरों तले कुचला जाऊँगा। मगर यदि आत्मश्रद्धा, दृढ निश्चय और सफलताकी आशाके साथ मैं अपना कार्य प्रारंभ करूँगा तो मेरी आत्मशक्ति विकसित होगी, और लोग अपने आप ही मेरी तरफ़ खिचे चले आवेंगे।

काम चाहे छोटा ही क्यों न हो यदि मैं उसे अच्छी तरहसे करूँगा तो उससे मुझमें ऊँचे दर्जेका काम करनेकी योग्यता आयगी। श्रद्धा श्रद्धाको पैदा करती है। कामको काम सिखाता है। उत्साहसे उत्साह बढ़ता है। ऐसी छोटी छोटी सफलताओंसे मेरी आत्मश्रद्धा और शक्ति बढ़तीं हैं। मैं मानता हूँ कि, आत्श्रद्धासे जन्मी हुई मेरी हिम्मत सत्तामें रहे हुए अन्तिम बल तकको बाहर खींच लायगी।

भय, अश्रद्धा और असमंजसको मैं अपने हृदयसे निकाल देता हूँ और उनकी जगह निर्भयता, श्रद्धा और दृढताको बिठाता हूँ। इन्हींसे मैं महान कार्य कर सकूँगा। मंद विचारोंका फल भी मंद ही होता है। विचारके अनुसार ही कार्यमें भी सिद्धि होती है। श्रद्धाके माफ़िक ही लाभ होता है। अत्यंत गरमी जैसे लोहेको भी गाल देती है। बिजलीकी प्रबल शक्ति कठिनतम हीरेको भी पिघाल देती है। इसी तरह दृढ निश्चय और अजेय आशासे मैं अपने काममें सफलता लाभ करूँगा। यदि मेरा निश्चय ढीला होगा तो मेरे प्रयत्न भी ढीले ही होंगे। मैं अपने भाग्यकी अपेक्षा बड़ा हूँ। भाग्यको मैंने ही बनाया है। बाहरकी किसी भी शक्तिकी अपेक्षा मेरी आत्मामें अनेक गुणी अधिक शक्ति है। इस बातको यदि मैं न समझ सकूँगा तो मेरे द्वारा कोई भी महत्त्वका कार्य नहीं होगा।

यद्यपि यह आत्मश्रद्धा मेरा अहंकार नहीं है ज्ञान है, तथापि मैं इस बातका खयाल रखता हूँ कि, यह कहीं अहंकारके रूपमें न बदल जाय। मै इसको विशेष निर्मल बनाता हूँ। प्रतीतिहीसे श्रद्धा जन्मती है। मेरी सब तरहकी उन्नतिका आधार मेरी आत्मश्रद्धा ही है। एक कहता है कि—" संभवतः मैं यह काम कर सकूँगा या करनेका प्रयत्न करूँगा।" दूसरा कहता है—" मै यह काम कर सकता हूँ और जरूर करूँगा।" इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमेंसे पहलेमें श्रद्धा ढीली है, और दूसरेमें

दृढ है। दूसरे आदमीके समान विचारवाले मनुष्य ही प्रारंभ किये हुए कामोंको पूरा कर सकते हैं।

प्रचंड बलके साथ कार्य प्रारंभ करूँगा और बीचमें जो विघ्न आयँगे उन्हें नष्ट करनेकी शक्ति प्राप्त करता जाऊँगा। विघ्न पूरा बल लगाये और सतत प्रयत्न किये विना नहीं हटते। डगू पचू शंकाशील और अस्थिर मनसे बड़े काम नहीं होते। सारा जगत मेरे विरुद्ध होगा तो भी मैं अपने प्रारंभ किये हुए कामको जरूर पूरा कर डालूँगा। क्योंकि मायावी जगतकी अपेक्षा आत्मा विशेष शक्तिशाली है। यदि मैं यह मान लूँ कि अमुक कार्य करना मेरे लिए असंभव है तो फिर संसारमें एक भी शक्ति ऐसी नहीं है जो मुझे उस कार्यको पूरा करनेमें सहायता दे सके। आत्मविश्वास और महान पुरुषार्थ किये विना एक भी काम पूरा नहीं होता। आत्मामें एक ऐसी शक्ति है जो तीव्र इच्छा और महान पुरुषार्थ करनेवाले आदमीके कार्यको तत्काल ही पूरा करा देती है। वह शक्ति सारी चीजोंको अपनी तरफ़ खींच लेती है। वास्तवमें तो मेरी चीज़ ही मुझे मिलती है। मेरा भाग्य मुझसे जुदा नहीं है। अपनेको पामर समझनेवाले हतभाग्य जीव यह नहीं समझ सकते हैं कि, आत्माकी महान शक्तिको जागृत करके उसके द्वारा कार्य करनेवाले मनुष्य असाध्यको भी साध सकते हैं।

ऊपर बताये हुए विचारोंका बार बार मनन करके दुर्बलसे

दुर्बल मनवाला भी अपने आपको सबल—मनको सबल--बना सकता है। आत्मामें अनन्त शक्ति सुप्त है, वह प्रबल विचारोंके द्वारा जागृत की जा सकती है। जब बुझती हुई आग भी पंखेकी मददसे जाज्वल्यमान की जा सकती है तब विचारोंकी दृढतारूपी हवासे यदि सुप्त आत्मशक्ति जागृत हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? विचारबल मुर्दा दिलोंको भी जिंदा कर देता है। जमीन पर पड़ी हुई गुल्ली पहले डंडेसे अणीपर आघात कर ऊँची उछाली जाती है और जब उछल जाती है तब वह डंडेके हल्केसे आघातसे ही बहुत दूर चली जाती है। इस तरह मनुष्योंको पहले विचार बलसे ऊँचे उठाना चाहिए। ऊँचे उठने पर वे अपने आप ही आगे बढ़ जायँगे अथवा थोड़ेसे सहारेहीसे वे उन्नत हो जायँगे।

जो विचारबल द्वारा अपनी निर्बलता कम करना चाहते हैं वे अवश्यमेव इस पाठका मनन करें।

पाठ चौबीसवाँ।

ध्यान।

चित्तको एकाग्र, निर्मल और स्थिर बनानेके लिए ध्यानकी आवश्यकता पड़ती है। ध्यान कैसे प्रारंभ करना चाहिए इसके

विषयमें यहाँ थोड़ा विवेचन किया जायगा। ध्यानमें दृष्टिकी स्थिरता बहुत उपयोगी होती है। उसको स्थिर बनानेके लिए पहले परमात्माकी सुंदर मूर्तिकी ओर एक टक देखनेका अभ्यास करना चाहिए। आँखें न झपकानी चाहिए। यदि ऑखोंमें पानी आजाय तो उसे आने देना चाहिए; मगर आँखें बंद न करनी चाहिए। प्रारंभमें जब आँखोंमें पानी आजाय तब देखना बंद कर देना चाहिए। फिरसे दूसरे दिन देखना चाहिए। दिनमें दो बार सवेरे और शामको अभ्यास करना ठीक होगा। जब पन्द्रह मिनिटतक देखते रहनेका अभ्यास हो जाय तब मूर्तिके सामने देखना बंद कर अपने अन्तरंगमें दृष्टि करनी चाहिए। वहाँ तुम्हें मूर्तिका प्रतिबिंब दिखाई देगा। उसे विशेष समयतक देखते रहनेका अभ्यास करना चाहिए, एकान्त, पवित्र और डाँस, मच्छर वगैरासे रहित स्थानमें बैठ, सांसारिक विचारोंको दूरकर प्रतिमाजीको हृदयमें स्थापित कर उनकी अष्ट प्रकारी मानसिक पूजा करनी चाहिए।

१. प्रथम स्नान कराते समय यह भावना करनी चाहिए कि, हे प्रभो! आप तो पवित्र हैं। पानी जैसे मलको दूर करता है; तृषाको बुझाता है और तापको शान्त करता है वैसे ही आप हमारे कर्ममलको दूर करिए, विषय तृष्णाको बुझाइए और त्रिविध तापको शान्त करिए।

२. दूसरी चंदनपूजामें नौ अंगों पर तिलक करते हुए

सोचना चाहिए कि, हे प्रभो ! चंदन जैसे काटने, घिसने और जलाने पर भी अपनी सुगंध और शीतलताको नहीं छोड़ता ह वैसे ही दुनीयाके, सुखदुःखके विविध प्रसंगोंमें मेरी आत्मजागृति बनी रहे; मैं समभाव पूर्वक सब कुछ सहन कर सकूँ ऐसा बल मुझे प्राप्त हो।

३. तीसरी पुष्पपूजामें विविध प्रकारके सुगंधित पुष्प चढ़ाते समय विचार करना चाहिए कि, हे प्रभो ! पुष्प जैसे अपनी सुंदरता और खुशबूके सबत्र देवोंके सिरोंपर चढ़नेके योग्य हुए हैं वैसे ही मुझे भी अपने सत्य स्वरूपकी सुंदरता और उत्तम आचरणकी सुगंधके कारण परमात्म स्वरूपमें रहनेका बल प्राप्त हो।

४. चौथी धूपपूजामें सुगंधित धूप परमात्माके सामने खेते हुए यह भावना करनी चाहिए कि, धूप जैसे जलते हुए भी वातावरणको शुद्ध बनाकर चारों तरफ़ खुशबू ही खुशबू कर देता है वैसे ही हे प्रभो ! मुझे भी ऐसा बल मिले कि मैं भी, पूर्व कर्मोंके योगसे त्रिविध तापद्वारा जलते हुए भी, आत्मजागृतिकी शक्तिके आधार, आसपासके लोगोंमें और विरोधी जीवोंके हृदयोंमें शान्तिका वातावरण फैला सकूँ और शीलकी खुशबूसे सबके चित्तोंको मोअत्तिर कर सकूँ।

५. पाँचवीं दीपकपूजामें दीपक जलाकर भावना करनी चाहिए कि, हे प्रभो ! आप सदा केवलज्ञानसे प्रकाशित हैं।

मेरे हृदयसे भी, आपके प्रतापसे,—अज्ञानान्धकार दूर हो; मलिन वासना नष्ट हो और सदाके लिए मेरे अन्तःकरणमें ज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहे ।

६. छठी अक्षत पूजामें चावलका मानसिक साथिया बनाते समय सोचना चाहिए कि, इन चार टेढ़ी पंखड़ियोंकी तरह चार गतियाँ भी टेढ़ी हैं; उन्हें हे प्रभो! तू दूर कर। मैंने उसमें बहुत भ्रमण किया है। मैं अब उससे घबराया हूँ। इस शरीररूपी छिलकेको दूर कर चावलकी तरह अखंड और उज्ज्वल आत्म स्वरूप प्रकट करनेका बल दे ।

७. सातवीं नैवेद्यपूजामें विविध प्रकारका नैवेद्य प्रभुके सामने रख भावना करना कि, हे प्रभो! इन पदार्थोंको मैंने अनेक वार खाया है, तो भी तृप्ति नहीं हुई; इसलिए मुझे ऐसा बल प्राप्त हो कि, जिसके द्वारा मैं अनाहारी पद प्राप्त कर निरंतर आत्माके आनंदमें तृप्त रहूँ ।

८. आठवीं फलपूजामें अनेक तरहके फल प्रभुके सामने रख भावना करना कि हे प्रभो! मैं इन फलोंको प्राप्त करके तो अपनी आत्माको भूल गया हूँ। अब मुझे ऐसा फल प्राप्त हो कि जिसके द्वारा निरन्तर परमात्माका ध्यान रहे; मेरी आत्मा सदा जागृत रहे ।

इस तरह मानसिकपूजा (मनके द्वारा हरेक चीज़की कल्पना) करके पहले प्रभुके दाहिने पैरके अंगूठेको देख-

नेकी कल्पना करना। जब वह अंगूठा दीखे, कल्पना करते ही वह अंगूठा झटसे प्रत्यक्षकी तरह मालूम होने लगे, तब इसी तरह दूसरी उँगलियाँ देखना। इसी तरह फिर बायाँ पैर भी देखना। इसी तरह पाळगती, कमर, हृदय और मस्तक आदि-क्रमशः देखना। जबतक एक भाग बराबर न दिखने लगे तबतक दूसरे भाग पर नजर न डालना। दूसरा भाग दिखने लगे तब पहला और दूसरा दोनों भाग एक साथ देखने लगना। इस तरह नये भागोंके साथ पहलेके भाग देखते जाना। शरीरके सारे भाग जब अच्छी तरह दिखने लगें तब मूर्तिको सजीव प्रभुके रूपमें बदल देना। यानी ऐसी कल्पना करके ध्यान करना कि, प्रभुका शरीर हलनचलन कर रहा है, बोल रहा है आदि। फिर इच्छानुसार प्रभुको पद्मासनमें बैठे, या का-उसग्गमें खड़े या सोते हुए धार कर तदनुसार कल्पनाको दृढ करना। इस एकाग्रताके साथ परमात्माके नामका मंत्र ॐ **अर्हं नमः** जपते रहना। उनके हृदयमें दृष्टि स्थापित कर वहीं जाप करना। यदि गिनती न रहे तो कोई हानि नहीं, है। भ्रकुटी और तालू पर भी जप करना चाहिए। जितना समय मिले उतने समयतक भगवानके जीवन-शरीरको हृदयमें, सामने खड़ा करके जप करते ही रहना चाहिए। यदि हो सके तो घंटों इसी ध्यानमें रहना चाहिए। ऐसा करनेसे मन एकाग्र और पवित्र होता है। कर्ममल जल जाता है। मन जितना

निर्मल बनता है उतना ही स्थिर भी रहता है। मनको स्थिर करनेकी धारणा हृदय और मस्तकपर करनी चाहिए। जैसे जैसे अभ्यास बढ़ता जायगा वैसे ही वैसे आगेका मार्ग हाथमें आता जायगा। इस तरह प्रारंभिक ध्यानका अभ्यास करनेसे महान ध्यानी बना जा सकेगा।

सार प्रश्न।

१. ध्यानकी क्या जरूरत है? २. ध्यानमें विशेष उपयोगी क्या है? ३. प्रभुके सामने देखनेका अभ्यास कब बंद करना चाहिए? ४. मानसिक पूजा किसे कहते है? ५. पहली स्नात्र पूजाकी भावना क्या है? ६. चंदनका स्वभाव कैसा है? ७. पुष्पकी भावना किस तरह करनी चाहिए? ८. धूपपूजा करते क्या सोचना चाहिए? ९. दीप—पूजाकी भावना क्या है? १०. अक्षतपूजाकी भावना कैसे की जाती है? ११. अनाहारी होनेका विचार क्यों करना चाहिए? १२. वह कौनसा फल है जिसके मिलनेसे दूसरे फलकी इच्छा नहीं होती? १३. सजीवन प्रभुका क्या अभिप्राय है? १४. जप किसका करना चाहिए। १५. किस लिए करना चाहिए? १६. मनमें स्थिरता कब आती है? १७. जप कैसी जगह बैठकर करना चाहिए? १८. मन स्थिर करनेका विचार कहाँ करना चाहिए?

पाठ पचीसवाँ ।

व्यवहारमें वृत्ति स्वरूपका अवलोकन ।

हमारे मनमें जुदाजुदा प्रकारके विचार उत्पन्न होते हैं। जब उनका छोटा मोटा रूप हो जाता है तब वे वृत्ति कहलाते हैं। वृत्तियाँ मनमें उत्पन्न होती हैं। ये बीज स्वरूप हैं। जैसे एक बीजसे अनेक बीज पैदा होते है वैसे ही उस वृत्तिके साथ जब अपनी राग या द्वेषवाली भावना मिलती है तब उससे अनेक वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। हमारा रातदिनका व्यवहार इन वृत्तियोंको परिपुष्ट करनेवाला है। नवीन कर्मोंके बंधन और उनके कारण भावीमें प्राप्त होनेवाले जन्मका आधार ये ही मानसिक वृत्तियाँ हैं। यदि मनमें सात्त्विक वृत्तियाँ उत्पन्न करें अथवा निरंतन आत्मजागृति रख, प्रबल पुरुषार्थ द्वारा पर-मार्थी आचरण बना, सात्त्विक वृत्तियोंहीको उत्साहित करें और व्यवहारके हरेक प्रसंग पर उन्हींको टिका रक्खें तो हमारा वर्तमान और भविष्यका जीवन बहुत ही ऊँचा हो जाय।

यदि हम अपने आचरण व्यवहारके अनुसार ही रक्खें, धर्मकृति भी व्यवहारके अनुकूल ही करें तो उनसे हमारी राजस् प्रकृतियोंको पोषण मिलता है और हमारा जीवन मध्यम दर्जेका होता है। मगर यदि हमारे आचरण केवल स्वार्थमय ही

होते हैं, हमारी प्रत्येक प्रवृति विषय वासनाको पुष्ट करनेही-के लिए होती है; मनमें रौद्र ध्यान होता है; आचरणोंके द्वारा अनेक जीवोंका संहार होता है तो इनसे हमारी तामस् वृत्तियोंको पोषण मिलता है और हमारा भावी जीवन बहुत ही खराब हो जाता है।

संक्षेपमें कहें तो हमारी वृत्तियाँ तीन भागोंमें विभक्त हैं। सात्विक, राजस् और तामस्। प्रत्येक वृत्ति विवेक और विचा-रबलसे बदली जा सकती है। विपमतर प्रसंगोंको भी हम विचारबल और विवेककी सहायतासे बदल सकते है। तामस् और राजस् प्रकृतिको बदल हम आत्माको पतनकी ओर जाते रोक उन्नत बना सकते हैं। ऐसी शक्ति हमारे अंदर है। जब कोई ऐसा प्रसंग अपने हाथ आवे तब उसे जाने नहीं देना चाहिए। अन्यथा चिर कालसे परिपुष्ट बनी हुई नीच प्रवृत्तियाँ अपना दुःखमय प्रभाव दिखाये विना नहीं रहेंगी।

दुनियामें बड़े समझे जानेवाले मनुष्योंकी वृत्तियोंका पोषण भी बड़ा ही होता है; मगर ,यदि उनके आत्म भाव जागृत होंगे और वृत्तियोंके पोपणसे उत्पन्न होनेवाले सुख दुःखका उन्हें ज्ञान होगा तो वे अधम वृत्तियोंका पोषण नहीं करेंगे। जीवन यदि हल्का होता है तो वृत्तियाँ भी नीच होती हैं और जीवन यदि उच्च होता है तो वृत्तियाँ भी उच्च ही होती हैं। अच्छे या बुरे निमित्तसे वृत्तियोंमें परिवर्तन हुए बिना नहीं रहता।

राजा यदि सात्त्विक प्रकृतिका होगा तो उसमें अहिंसा, सत्य, प्रामाणिकता, क्षमा, नम्रता, उदरता, परोपकार, प्रेम, सत्कार, न्याय, शील, वीरता, धर्म, वात्सल्य, ज्ञान, भक्ति, परमार्थ, सेवा, रक्षा, दान, गुरुभक्ति, अतिथिसत्कार, विनय आदि उच्च वृत्तियाँ ही उसके अन्तःकरणमें होंगी; यदि राजस् प्रकृतिवाला विलासी होगा तो उसमें विषयेच्छा स्वार्थपरता, ज्यादा सम्मान पानेकी आकांक्षा, स्वार्थसाधक दया,–दान–और कर्तव्यपालन आदि मध्यमवृत्तियाँ होंगी। इनके साथ ही हल्की वृत्तियाँ अन्तःकरणमें बढ़ती जायँगी।

और राजा यदि तामस् प्रकृतिवाला होगा तो भोजनके लिए, मौजशौकके लिए और अधिकारके लिए उसमें क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, राग, द्वेष, तिरस्कार, अन्याय, असत्य, अप्रामाणिकता, व्यभिचार, व्यसन, कायरता, अधर्म, अनीति, निर्दयता, दंभ, महत्ता, ईर्ष्या, द्वेष और मोह आदि वृत्तियोंका फल मिलनेकी जहाँ अनुकूलता होगी वहीं उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा।

धर्मगुरु यदि सात्त्विक प्रकृतिवाला होगा तो उसके हृदयमें सात्त्विक वृत्तियाँ होंगी; मगर यदि वह जनूनी, धर्मांध, या अज्ञानी होगा तो उसके हृदयमें तामस राजाकीसी प्रवृत्तियाँ ही होंगी। कारण धर्मगुरु भी बड़ा आदमी है और अधिकारकी

गरमी भी, कुछ भिन्नता लिए हुए मगर एक ही जातिकी दोनोंमें होती है।

मनुष्य यदि उद्यमी होगा तो पुरुषार्थ, स्वाधीनता, उत्साह, वीरता, आदिकी वृत्तियाँ उसमें होंगी। इन वृत्तियोंसे उसके जीवनके संयोगों और निमित्तोंके प्रमाणमें, अन्यान्य वृत्तियाँ भी परिपुष्ट होंगी।

मनुष्य यदि आलसी, क़र्ज़दार या भिखारी होगा तो दुःख, कायरता, निराधारता, निरुत्साह, मंदता, अज्ञान, असंतोष, लोभ, क्लेश, केवल दुःखमय विचार, ईर्ष्या, द्वेष आदि वृत्तियाँ मुख्यतया उसमें होंगी और उनके साथ ही क्रोधादिकी वृत्तियाँ भी प्रसंगानुसार परिपुष्ट रहेंगी।

फ़ौजदार या जेलरके हृदयमें निर्दयता, निष्ठुरता, चंचलता, सत्तावल आदि वृत्तियाँ स्वाभाविक हो जाती हैं।

नोकरोंके चित्तमें उनके स्वभावानुकूल प्रामाणिक या अप्रामाणिक वृत्तियाँ हुआ करती हैं।

शिकारियों और कसाइयोंके—जो खूराकके लिए पशुओंको मारते हैं—हृदयोंमें हिंसा, क्रूरता लोभ आदिकी वृत्तियाँ होती हैं।

नाजके व्यापारियोंके हृदयोंमें नाजलेते समय शान्तिकी और वेचते समय अशान्तिकी वृत्ति होती है।

सामान्यतया सभी तरहके व्यापारी शान्ति या अशान्ति

अपने मालकी खपत या अखपतके अनुसार रखते हैं। प्रसंगानुसार उनकी उच्च या नीच वृत्तियाँ परिपुष्ट हुआ करती हैं।

किसानोंकी भावनाएँ भी बोते वक़्त और बेचते वक़्त प्रायः जुदाजुदा हुआ करती हैं। उनके अनुसार ही उनके हृदयोंमें शान्ति या अशान्ति सुख या दुःख, मोह, लोभ आदिकी वृत्तियाँ हुआ करती हैं।

इष्ट वस्तु या प्रिय जनके वियोगमें प्रायः मोह, शोक, अज्ञान, दुःख आदिकी वृत्तियाँ हुआ करती हैं और अनिष्ट वस्तु अप्रिय या शत्रु मनुष्य और रोग आदिके समय उपेक्षा, तिरस्कार, हिंसा या दुःखकी वृत्तियाँ हुआ करती हैं।

इतनी बातें तो केवल ऐसी ही वृत्तियोंके विषयमें कहीं गई हैं, कि जिनका प्रत्यक्षमें अनुभव होता है; मगर वृत्तिके साथ अन्य भी अनेक वृत्तियाँ प्रसंगानुसार हो जाती हैं। इस सारे विवेचनका सार यह है कि, बीजके अनुसार ही फल मिलते हैं। हमारी वृत्तियाँ जैसी होती हैं वैसे ही हमें फल भी भोगने पड़ते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यवहार या परमार्थके समय मनुष्यको अपनी वृत्तियोंकी जाँच करते रहना चाहिए। वृत्तिके मूल कारण और उसके भावी फलकी तरफ़ भी ध्यान रखना चाहिए। यह भी विचारपूर्वक देखते रहना चाहिए कि, एक वृत्तिका कितना और कैसा विस्तार हो जाता है। इस तरह देखते रहनेसे हम भली प्रकारसे यह जान सकेंगे कि, कौनसी वृत्ति रहने देनी चाहिए

और कौनसी नहीं। तदनुसार भावी जीवन गढ़नेका सामर्थ्य भी हममें आ जाता है।

अपनी वृत्तियोंकी तरह दूसरोंकी वृत्तियोंकी भी जाँच करते रहना चाहिए और यह निश्चय करना चाहिए कि यदि मैं ऐसी स्थितिमें होता तो कैसा व्यवहार करता। इस विचारसे वैसी स्थिति होने पर नवीन बीजवाली वृत्तियोंको मनुष्य सुगमतासे रोक सकता है।

प्रभुके मार्गमें आगे बढ़नेकी इच्छा रखनेवाले हरेक मनुष्यको व्यवहारके प्रत्येक अवसर पर अपनी वृत्तियोंका निरीक्षण करते रहना चाहिए। इस काममें यह छोटासा पाठ बहुत मदद देगा। यह पाठ शान्तिके मार्गका बीज है। जो बीज बोता है वही फल प्राप्त करता है।

इस तरह अपनी वृत्तियोंको पहचान, क्षुद्रको छोड़ उच्चको उच्चतर बनाना ही धर्मका वास्तविक स्वरूप है। यानी तमोगुणसे रजोगुण और रजोगुणसे सत्त्वगुण प्राप्त करना चाहिए। जब तक ऐसा अभ्यास नहीं किया जाता तब तक, हृदय निर्मल हुए बिना, अनेक जन्म तक किया हुआ धर्म भी व्यर्थ जाता है।

पाठ छब्बीसवाँ।

आत्म-विकास।

ध्यानके विना पूर्णरूपसे आत्माका विकास नहीं होता। भूतकालमें जितने महा पुरुष हुए हैं वे सभी ध्यानहीके बल आगे बढ़ सके हैं। ध्यानमार्गमें प्रवेश करनेवाले मनुष्यको पहले अपना ध्येय निश्चित कर लेना चाहिए। उसको निश्चित करनेके बाद यह निश्चय करना चाहिए कि, इस मार्ग पर चलनेके लिए मुझमें कितनी योग्यता है। फिर ध्यानकी विधि जान उसका अभ्यास प्रारंभ करना चाहिए।

अपने ध्येयकी स्थितिका मानसिक दृश्य बारबार देखना चाहिए, ध्यानके समय वह वैसाही रहे इस बातका बराबर प्रयत्न करना चाहिए।

अपना योग्य ध्येय आत्मस्वरूपको प्राप्त करना ही है। आत्माके उपर आठ कर्म आवरण रूप हैं। उनका नाश होनेहीसे आत्मस्वरूप प्राप्त होता है;—आत्माके महान आठ गुण प्रगट होते हैं। आत्मा अनंत है। क्योंकि उसका अंत यानी नाश नहीं होता। उस अनंतका ज्ञान, दर्शन, आनंद, शक्ति, सुख, जीवन, स्वरूप और अनुभव ये ही प्राप्त करने योग्य ध्येय हैं। इससे यह निश्चय हुआ कि अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत

आनंद, अनंत वीर्य, अव्यावाध सुख, सादि अनंत जीवन, अरूपी दशा और अगुरु लघु–व्यापक स्थिति–ये आत्माके पूर्ण विकास हैं। उसीके लिए मैं प्रयत्न करता हूँ। मेरी सारी प्रवृत्तियाँ मेरे इस आत्मविकासहीके लिए है।

भूगर्भ।

लक्ष जागृत करनेके वाद भूगर्भ उत्पन्न करना चाहिए। एक ही विचारको वार वार मनन करनेसे मनपर उसका वहुत असर होता है। मन धीरे धीरे उसीके अनुरूप वन जाता है। अन्तमें अपने चारों तरफ़ भी वैसा ही वातारण उत्पन्न होता है। उस वातावरणमें आनेवाले वातावरण भी उससे भली प्रकार सुवासित होते हैं। अन्यान्य सजातीय परमाणु भी उसकी तरफ़ खिचकर आजाते हैं। विरोधी परमाणु दूर हट जाते हैं। इस वँधे हुए मानसिक आकार और वातावरणहीको भूगर्भ कहते हैं। अपने साध्यरूप लक्ष्य बिंदुका जब भूगर्भ वनता है तव वह निश्चित बीजपनके रूपको धारण करता है। अपनी, अपने ध्येयसे संवंध रखनेवाली, प्रत्येक क्रिया भूगर्भकी तरफ प्रवाहके रूपसे हो कर उस वीजको पोपती है और उसमेंसे आत्मविकासरूप फल पैदा करती है। अपने विचार और इच्छाएँ वहुत सावधानीके साथ करने चाहिए। अधम वृत्तिवाले नये वीज अवसे वोना छोड़ देना चाहिए।

यदि अपना लक्ष्य आत्मविकास ही होता है तो अपनी

सारी प्रवृत्तियोंका फल भी वही होता है। मगर यदि अपना लक्ष इन व्यवहारकी या योगकी चमत्कारी शक्तियाँ पैदा करना ही होगा तो अपनी उत्तम क्रियाएँ उसीका पोषण करेंगी; उसी तरहके फल पैदा करेंगी और नये कर्म प्रगटावेंगी। इस लिए अपना लक्ष्यबिंदु पूर्ण आत्मविकासके सिवा दूसरा नहीं होना चाहिए।

ध्यानमार्गमें विरुद्ध विचार रूपी काँटोंको न उगने देना चाहिए। यदि उग जायँ तो विचारबल एवं वृत्ति-निरीक्षणसे उन्हें उखाड़ डालना चाहिए। यदि ऐसा नही किया जायगा तो ये काँटे भी बढ़ जायँगे और मूल लक्षको पुष्ट होनेके लिए जो खूराक मिलती है उसे खुद खाकर लक्ष्यको निःसत्त्व बना देंगे।

ध्यान करनेकी जगह।

हृदयके दाहिने भागकी तरफ़ उपयोग रखकर वहाँ शान्ति शान्ति, शान्तिका जप करना चाहिए। जपके समय यदि कोई क्षुद्र वृत्ति उठ आवे तो, तत्काल ही जप बंद कर, उस वृत्तिको जाच, उससे ऊँचे दर्जे वाली वृत्ति पैदाकर, विवेक ज्ञान द्वारा वृत्तिकी असारता समझ उस वृत्तिको नष्ट कर देना चाहिए और खुद उत्पन्न की हुई वृत्तिको भी छोड़ फिरसे जाप करने लग-जाना चाहिए।

क्षुद्र वृत्तियोंको नष्ट किये विना ही यदि ध्यान

जारी रक्खा जाय तो वे अंदर ही दबकर पड़ी रहें और प्रबल होकर ध्यानको नष्ट करदें अथवा उसी समय ध्यानको अव्यवस्थित बना दें। इसलिए विचारबलसे क्षुद्र वृत्तियोंको तत्काल ही नष्ट कर देना चाहिए। जप कम हो तो कोई चिन्ता नहीं है। जपकी गिन्ती रखनेकी कोई खास जरूरत नहीं है। जपकी गिन्तीका कोई खास मूल्य भी नहीं है। मूल्य तो है क्षुद्र वृत्तियोंको कम करने और शुभ वृत्तियोंको उन्नत बनानेका।

वृत्तियोंका निरीक्षण।

कुछ समयके बाद जप बंद करके हृदयके मध्यसे दो अंगुल बाई तरफ़ एक चित्त होकर देखना चाहिए। आँखोंको तो बंद ही रखना चाहिए। मनमें उठती हुई स्वाभाविक वृत्तियोंको रोकना नहीं चाहिए। वृत्तियाँ उठें ऐसी प्रेरणा भी नहीं करनी चाहिए। स्वभावतः उपयोग रखते समय बीचबीचमें उपयोग हट भी जाया करता है। उस समय कोई न कोई वृत्ति अवश्य मेव प्रकट होजाती है। उस वृत्तिको विचारोंके द्वारा तोड़ कर फिर शान्त हो अवलोकन करते रहना चाहिए।

इस अभ्याससे सत्तास्थित अनेक तरहकी वृत्तियाँ बाहर आती हैं, और फिरसे वे उत्पन्न हों इस तरह विवेक ज्ञानके विचार द्वारा नष्ट कर दी जाती हैं। उसके साथ ही, नई इच्छाएँ नहीं की जातीं इस लिए, सत्तामें नये बीजोंका दाखिल होना ही रुक जाता है। इस अभ्याससे संवर और निर्जरा एक साथ

होते हैं। संचय होनेके लिए आनेवाले कर्मोंको रोकना संवर है और संचित कर्मोंको नष्ट करना निर्जरा है। इस अभ्याससे ये दोनों होते हैं।

द्रष्टा (प्रेक्षक) की तरह देखते रहनेसे, यदि वृत्तियाँ नहीं उठती हैं तो स्थिरता या एकाग्रता बढ़ती है और वृत्तियाँ उठती हैं तो विवेक ज्ञानद्वारा वे तोड़ दी जाती हैं और निमित्त मिलने पर वे विशेष जोरके साथ बाहर नहीं आती हैं। हृदयमें शान्तिकी छायाके नीचे देखते रहनेसे सत्तास्थित कर्म धीरे धीरे बाहर आते हैं। यह कर्म तोड़नेका पुरुषार्थ है।

वृत्तिके अवलोकनरूप ध्यानद्वारा जब कर्म बाहर आते हैं तभी मालूम होता है कि, मेरे अंदर अमुक प्रकारके कर्म विशेष या कम प्रमाणमें हैं और अमुक प्रकारके नहीं हैं या कम हैं। जो कर्म अपने अंदर विशेष होंगे उनके विचार बार बार आयेंगे। तो भी हमें जप और अवलोकन तो शुरू ही रखना चाहिए। जप ॐ कारका, सोहंका और शान्तिका तीनों तरहका प्रसंगानुसार करना चाहिए।

जपरूपी हलद्वारा जमीनकी तरह कर्म खुदते हैं। शान्ति जपकी छायाके नीचे वृत्ति-अवलोकनरूप पावड़ा द्वारा खुरचकर वे कर्म बाहर निकाल दिये जाते हैं।

ध्यानके अलावा दूसरे समयमें वृत्तियोंको तोड़ने और ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आत्माके शुद्ध स्वभावको बतलानेवाले,

कर्मोंके अचल नियमको समझानेवाले और मनकी वृत्तियोंके स्वरूपको वतानेवाले ग्रंथोंको पढ़ना वहुत उपयोगी है।

दिनमें किसी भी समय जब क्षुद्र वृत्तियाँ उत्पन्न हों तभी उन्हें देखते रहना चाहिए। मनमें जो विकल्प उठते हैं वे ही वृत्तियाँ हैं। एकसे अनेक वृत्तियाँ पैदा होती हैं। यदि हम जागृत न हों तो उसका इतना विस्तार वढ़ जाता है कि, घंटों अन्त नहीं आता।

यह विकल्पपूर्ण मन आत्माके आगे आवरणरूप खड़ा रहकर उसके आवरणोंको दृढ वनाता है। विविध इच्छा या वासनावाले विकल्प सत्तास्थित कर्मोंमेंसे वाहर आते हैं। वाह्य पदार्थोंके लिए भी वे अनेक इच्छाएँ करते हैं। इन इच्छाओंके निमित्तसे राग, द्वेष, हर्ष, शोक पैदा कर नये कर्मवीजोंका संचय कराते है। अपनी निर्वल इच्छाओंहीसे इनका जन्म होता है।

जपका फल वृत्तियोंको मनसे जुदा करना; उनका नाश करना है। वृत्तियाँ नाश हुई या नहीं यह उस समय समझना चाहिए कि जब उनका मन पर असर न हो, ढूँढने पर भी वे न मिलें और आकृति वने विना ही उपयोगकी जागृतिसे विखर जायँ। यदि वृत्तिका नाश नहीं हुआ होता है तो उसका मन पर असर होता है; किसी विषम प्रसंगका मन पर आघात लगता है; मन वैसी वातोंका वार वार पुनरावर्तन करता है; चित्त स्थिर नहीं रहता विह्वल हो उठता है। ये वृत्तिके नष्ट नहीं होनेके

लक्षण हैं। जबतक वृत्ति नष्ट न हो तबतक समझना चाहिए कि अभीतक जपका फल नहीं मिला है। अतः जप जारी रखना चाहिए; वृत्तिके छूट जाने पर जप निर्लेप हो जाता है। निर्लेप जपसे शान्ति बढ़ती है; सारे शरीरमें शान्ति फैल जाती है। वृत्तियोंका नाश होना तो बहुत ही ऊँची हद है। फिरसे उत्पन्न ही न हो इस प्रकारसे वृत्तिका नाश तों चौदहवें गुणस्थानमें होता है। तो भी निर्लेप जप होने पर कमल पर पड़े हुए जल बिंदुकी तरह वृत्ति रहती है। मनमें उसका प्रवेश नहीं होता। वह जप भी बंद होकर शान्त स्थिरता रहती है।

जप करते समय यदि वृत्तियोंका बल विशेष मालूम हो, विकल्प बहुत उठें तो शान्ति शब्दका जप करना चाहिए। उसके साथ ही वृत्तिको देखते रहना और भावना करना चाहिए कि इस वृत्तिका नाश हो। इससे वृत्तियाँ कम होंगी। यदि वृत्तियाँ अधिक उठने लगें तो अर्थके साथ सोहं शब्दका जप करते रहना चाहिए।

व्यवहारकी क्रियाओंको निर्लेप बनानेके लिए, व्यवहारके भी समय जप करते रहना, और वृत्तियोंका बल जाँचते रहना चाहिए। उसके कारणों और परिणामोंका भी विचार करते रहना चाहिए। इच्छा करते ही वृत्तियाँ बदल दी जायँ ऐसा बल प्राप्त करना चाहिए। पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाली वृत्तियोंका नाश होने ही पर यह समझना चाहिए कि आत्माका सच्चा

विकास हुआ है। भले, मनुष्योंको चमत्कृत करनेवाली शक्ति पैदा न हो, मगर मनको मलिन और मोहका पोषण करनेवाली वृत्तियाँ बीजरूपसे सत्तामें नई प्रवेशकर अनेक बीज उत्पन्न करनेवाली होती है। यदि उनका नाश हो जाय तो भी समझना चाहिए कि बहुत बडा लाभ हुआ है। इन वृत्तियोंके नष्ट होने हीसे आत्माका पूर्ण विकास होता है। जिन वृत्तियोंका उपशम होता है, वे कारण मिलने पर बड़े वेगके साथ बाहर आती हैं, और उस समय की कराई सारी कमाई धूलमें मिल जाती है। चमत्कारिणी शक्तियाँ चली जाती है और वापिस वे वैसे ही धोई हुई मूलीके जैसे मनुष्य हो जाते है। इसलिए वृत्तियोंको रोकने या दबानेकी अपेक्षा विचारबलसे उनका नाश करना ही आत्मोन्नतिका सरल राजमार्ग है।

यह पाठ उच्च विचारवालोंके लिए लिखा गया है। इसलिए वे उपयोगी कर्तव्य अपने आप ही खोज लेंगे। इसके सार प्रश्न देनेकी कोई आवश्यकता नहीं दिखती।

पाठ सत्ताईसवाँ।

अन्त समयकी क्रिया।

आत्मा अमर है। तो भी शरीर तो बदलता ही रहता है।

आगे बढ़नेके लिए शरीरको बदलनेकी आवश्यकता है। यदि शरीर जीर्ण हो गया हो, अशक्त बन गया हो, धर्म क्रिया करनेके योग्य न रहा हो; विशेष ज्ञान ध्यान उससे न बन पड़ता हो तो उसे टिका रखनेसे कोई लाभ नहीं है। परमात्माके मार्गमें आगे बढ़नेके लिए विशेष दृढ और बलवान शरीरकी बहुत ज्यादा आवश्यकता है। इसलिए दु खरूपी शरीरका त्याग करना दुःखरूप नहीं मगर सुखरूप है। जीर्ण वस्त्र त्यागकर नवीन वस्त्र पहननेमें दुःख कैसा ? मरणोन्मुख दशाके समय मनुष्यको विशेष सावधान रहना चाहिए। व्यवहारमें कहावत है कि–' अंते या मति सा गति ' यानी मरते वक्त जैसे खयाल होते है वैसी ही गति मिलती है। यह बात सत्य है। जीवनभर जो कार्य किये होते है उनके संस्कार अन्तके समय दृढ़ताके साथ जागृत रहते है, अन्त समयमें वैसी ही बुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिए उस समय आत्मजागृति रखनेकी बहुत ज्याद जरूरत है। इसके न होनेसे भावी जन्म बिगड़ जाता है।

अन्तके समय साधुओं और गृहस्थोंको–दोनोंहीको चाहिए कि वे किसी आत्मजागृति वाले महात्माको अपने पास रक्खें। उनके कारण असाता वेदनीका उदय या निर्बल मन वाला मनुष्य आत्मभान न भुला सकेगा। वे उनके आश्रयमें आराधना करें अपनी शक्तिके अनुसार प्रारंभ किये हुए कार्योंको पूरा करनेका प्रबंध करें। मोहादिकसे पीछे हटें पापोंसे अलग रहें। मोह

ममत्त्वका त्याग कर, सम भावमें रह; परमात्माका स्मरण करते हुए शान्तिके साथ इस देहका त्याग करें। इसको समाधि मरण या आराधना कहते हैं। आत्मज्ञानी विशेष जागृत करते हैं और आराधना कराते हैं। आराधनाके समय उनके सामने, विघ्नरूप जीवनके बुरे कृत्य कह देना, प्रायश्चित्त लेना, उनकी निंदा करना, पाश्चात्ताप करना, वैसा फिरसे न हो इसकी प्रतिज्ञा लेना।

अंगीकार किये हुए व्रतोंमें दोष लगा हो; जीवोंको मारा हो, झूठ कहा हो, ममता रक्खी हो, परिमाणसे अधिक धन संचय किया हो, कपट किया हो, तृष्णाके कारण जीवोंको सताया हो, स्वार्थके लिए स्नेह किया हो, द्वेष किया हो, लड़ाई की हो, सुख दुखके समय हर्ष शोक किया हो, माया तथा असत्यका उपयोग किया हो, मिथ्यात्वका सेवन किया हो तो–पाप मार्गमें प्रवृत्ती की हो तो–उसके लिए क्षमा माँगना; पश्चात्ताप करना चाहिए।

गृहस्थ गुरुकी साक्षीसे पाँच महाव्रत ले; आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है इसलिए गृहस्थाश्रमका त्याग करे। यदि त्यागी हो तो फिरसे व्रत ले। जैसे,–अबसे में यावज्जीवन किसी जीवको मारूँगा नहीं, झूठ बोलूँगा नहीं, चोरी करूँगा नहीं, ब्रह्मचर्य पालूँगा और सब तरहके परिग्रहका में त्याग करता हूँ। इन पाँच महाव्रतोंको अंगीकार कर कर्मोंके आनेका मार्ग बंद कर दे।

किसीके साथ वैर हो तो देव गुरुकी साक्षीसे उससे क्षमा माँग, उसे माफ़ कर वैर विरोधको मिटा दे, किसीके साथ वैर न रह जाय इस लिए अपना जीवन देख जावे और सारे जीवोंको स्व-आत्माके समान समझ, बिखरी हुई मनोवृत्तिको अपनी आत्माके अंदर स्थिर करे। सारे पदार्थों और सारे जीवोंकी तरफ़से मोहको हटा, आत्ममार्गके मददगार अरिहंत देव, सिद्ध परमात्मा, तत्वज्ञगुरु और शान्तिमय धर्म इन चारोंका शरण स्वीकार करे और मनसे कहे कि, हे प्रभो ! मैं आपकी शरण हूँ। यह जीवन मै आपके अर्पण करता हूँ। मेरे मन वचन और काय आपके आधीन हैं। इनका आपकी आज्ञाके अनुसार ही परिचालन हो। इस तरह निश्चय कर, परमात्माके एक स्वरूपको स्थिर कर, अपनी मनोवृत्तिको भ्रूके मध्यमें स्थापित करे। उस जगह परमात्माका पवित्र नाम सूचक ॐकारका जप करे अथवा नमस्कार मंत्रका जप करे। जपके सिवा कोई बात मनमें न आवे इसका खयाल रक्खे। उस मंत्रका तार जितना लंबा किया जा सके उतना करे। उस जपहीमें मनोवृत्तिको लीन कर दे। अन्तमें ब्रह्मरंध्र तरफ़ लक्ष रख, जपको छोड़, परमात्माके निर्विकल्प स्वरूपमें मनको जोड़ दे। परमात्मा कर्ममल रहित है, यह याद कर उस जगह निर्मल प्रकाशमें वृत्तिको जोड़ कर रक्खे। परमात्मा निराकार है इसलिए ऐसी स्थितिमें मनको रक्खे कि, वह आकार न पकड़े। परमात्मा निर्विकल्प हैं यह

सोच कर मनको ऐसा स्थिर बनावे कि, वह भी निर्विकल्प हो जाय। इसी तरहके भावोंमें मनोवृत्तिको लीन करता रहे। अन्तमें मनोवृत्तिको ब्रह्मरंध्रमेंसे निकालकर परमात्माके निर्विकार स्वरूपमें स्थिर कर दे। उसी स्थितिमें इस क्षणभंगुर देहका त्याग करे। यह विषय अनुभवका है। प्रयत्न, उत्साह, जागृति और गुरु समागम आदि जैसे साधन आत्माको मिलेंगे वैसी ही आत्म-शान्तिका अनुभव कर वह इस देहका त्याग करेगा और भविष्यकी शुभ स्थितिका अधिकारी बनेगा।

सार प्रश्न।

१. शरीर क्यों बदलना चाहिए? २. कैसे शरीरको छोड़ना चाहिए? ३. आत्मजागृति किसलिए रखनी चाहिए? ४. आराधना किसे कहते हैं? ५. मरते समय किसे पासमें रखना चाहिए? ६. किसका पश्चात्ताप करना चाहिए? ७. व्रत किसकी साक्षीसे लिए जायँ? ८. कैसे जीवोंसे क्षमा माँगना चाहिए? ९. शरण किसका लेना चाहिए? १०. कहाँ वृत्ति रखकर ॐकारका जप करना चाहिए? ११. अन्तमें मनको कहाँ जोड़ना चाहिए? १२. आखिरी स्थिरता कहाँ करनी चाहिए?

इति